श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

पञ्चमोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

प्रोफेसर निशीत कुमार तरफदार बी० ई०

बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग

पटना—५ (बिहार)

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी—१

भाषान्तरकर्त्री :

कुमारी चैताली दास बि० ए० (Hons)

(पटना)

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली, ५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३, पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छबि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्र
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी द्वारा श्री डी. आर दानी, लक्ष्मी निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीत कुमार तरफ़दार बी. ई.
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना—५ (बिहार)

७—डा० मदन मोहन, रमा आई हौस्पिटल, १० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री प्राणलाल भाइशंकर आचार्य, कर्णघंटा, गुर्जर छात्र सहायक समिति, वाराणसी

९—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट, प्रभु टाउन, रायबरेली

१०—श्रीमती माधवी कर द्वारा सिविल सर्जन, मिर्जापुर

११—श्री एस. सी. मित्र, १४ बि, तिलक ब्रिज्, आफिसर्स रेलवे कालोनी, न्यू दिल्ही—१

१२—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

परमहंस परिव्राजकाचार्यदण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत 'गीतामृतमञ्जूषा' का **पञ्चम अध्याय** प्रकाशित हो रहा है। पञ्चम अध्याय का तात्पर्य प्रथमाध्याय के परिशिष्ट में स्पष्ट रूप से दिया गया है। पाठकगण यदि उसके साथ मिला कर वर्तमान ग्रन्थ का मनन करें तो अधिक आनन्द प्राप्त होगा।

इस ग्रन्थ के मुद्रणादि कार्य में चतुर्थाध्याय की विज्ञप्ति में जिन जिन सज्जनों के नाम उल्लिखित हुए थे उनके प्रति इस अध्याय के प्रकाशन के समय भी गीतामण्डली कृतज्ञता प्रकाश कर रही है और जिन दानवीर महापुरुष की सहायता से २, ३, ४, अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ था, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हुआ है। इसलिये गीतामण्डली उनके प्रति पुनः कृतज्ञता प्रकाश तथा भगवान के पास उनके दीर्घ-जीवन की प्रार्थना कर रही है।

इति

कार्तिकी (रास) पूर्णिमा—२०२६
ता० २३–११–१९६९

श्री निशीत कुमार तरफदार वि. ई.
सहायक सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चमोऽध्यायः

भाष्यभूमिका

कर्मसंन्यासयोगः

पूर्ववर्ती अध्याय में 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (गीता ४।१८) यहाँ से आरम्भ कर 'सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' (४।१८) 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, (४।१९) 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' (४।२१) 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (४।२२) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः (४।२४) 'कर्मजान् विद्धि तान्' (४।३२) 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानं परिसमाप्यते' (४।३३) 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (४।३१) 'योग-संन्यस्तकर्माणं, (४।४१) इन वचनों के द्वारा श्रीभगवान् ने सर्वकर्मसंन्यास के बारे में कहा है। पुनः 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ' (४।४२) इस वचन के द्वारा कर्मानुष्ठान रूप योग (अर्थात् निष्काम कर्मयोग) अवलम्बन करने का आदेश अर्जुन को दिया। किन्तु जिसप्रकार स्थिति एवं गति परस्पर विरुद्ध है उसी प्रकार कर्मसंन्यास तथा कर्मानुष्ठान दोनों का सम्पादन एक ही पुरुष के द्वारा होना असम्भव है। श्रीभगवान् ने अभी तक स्पष्ट रूप से यह विधान नहीं किया कि काल के भेद से इनका अनुष्ठान करना चाहिए। अतः यह स्वभावतः ही प्रतीत होता है कि कर्मानुष्ठान तथा कर्मसंन्यास में एक का ही अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। अतएव इन दोनों में जो अपेक्षाकृत अधिक प्रशस्त अर्थात् मोक्षप्राप्ति का श्रेष्ठतर उपाय है उसे ही करना पड़ेगा, दूसरा नहीं, ऐसा सोचकर कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास इन दोनों में कौन श्रेष्ठतर साधन है ? उसे जानने की इच्छा कर अर्जुन ने प्रश्न किया 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण !' इत्यादि।

पूर्वपक्ष—पूर्वोक्त वचन द्वारा तो श्रीभगवान् ने ज्ञानयोग के द्वारा आत्मज्ञानिओं की निष्ठा का प्रतिपादन करने की इच्छा कर केवल आत्म-ज्ञानी के लिए ही सर्वकर्मसंन्यास निर्देश किया है—अनात्मज्ञ अर्थात् अज्ञानियों के लिए नहीं। कर्मानुष्ठान तथा कर्मसंन्यास—ये दोनों भिन्न-भिन्न पुरुषों के द्वारा (अर्थात् अज्ञानी पुरुष के द्वारा कर्मानुष्ठान एवं ज्ञानी व्यक्ति के लिये कर्मसंन्यास) अनुष्ठान किये जाने के योग्य होने के कारण इन दोनों में से कौन श्रेष्ठतर है उसे जानने की इच्छा कर जो प्रश्न अर्जुन ने किया वह युक्तियुक्त नहीं है।

उत्तरपक्ष—तुम ठीक ही कह रहे हो क्योंकि तुमने भगवान् का अभिप्राय जैसा समझा है उसके अनुसार यह प्रश्न नहीं हो सकता है किन्तु हम कहेंगे कि प्रश्नकर्ता के (अर्जुन के) अभिप्राय के अनुसार ऐसा प्रश्न युक्तिसंगत है।

पूर्वपक्ष—वह कैसे सम्भव है ?

उत्तरपक्ष—पूर्वोक्तवचनों के द्वारा भगवान् ने कर्मसंन्यास का कर्त्तव्य के रूप से वर्णन किया है। इसके द्वारा कर्मसंन्यास का प्रधानता भी सिद्ध हो रही है। कर्ता के विना (कर्तृत्वाभिमान के विना) कर्तव्यता (कर्त्तव्य-पालन) असम्भव है। [अज्ञानी व्यक्ति में ऐसा कर्तृत्वाभिमान रहता है]। अतः एक पक्ष में (एक ओर) अज्ञानी भी कर्मसंन्यास का कर्ता हो जाता है। अतः उसी का भी अनुमोदन किया गया है—केवल आत्मज्ञानी के द्वारा ही संन्यास सम्भव है, ऐसा कहना भगवान का अभिप्राय नहीं है। इस प्रकार अनात्मवित् पुरुष भी कर्मानुष्ठान तथा कर्मसंन्यास इन दोनों का ही कर्ता हो सकता है, ऐसा मानकर इन दोनों में से कौन श्रेष्ठतर साधन है इसे जानने की इच्छा कर अर्जुन ने जो प्रश्न किया है वह अयुक्त नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्याग दोनों परस्पर विरुद्ध होने से इनमें से किसी एक को ही कर्तव्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है (दोनों को एक साथ नहीं) अतः उनमें जो श्रेष्ठतर है उसीका ही अनुष्ठान करना चाहिए—दूसरे का नहीं। श्रीभगवान् अर्जुन के प्रश्न का जो उत्तर देंगे उन वाक्यों का अर्थनिरूपण करने पर प्रश्नकर्ता अर्जुन का जो यही अभिप्राय है वही प्रतीत होता है।

पूर्वपक्ष—कैसे ?

उत्तरपक्ष—संन्यास तथा कर्मयोग ये दोनों ही (मनुष्य के लिए) कल्याणकारक हैं किन्तु उनमें से कर्मयोग ही श्रेष्ठ है (गीता ५।२), ऐसी जो

भगवान् की उक्ति है उससे ही अर्जुन का अभिप्राय प्रतीत हो रहा है। अब विचार करना है कि संन्यास तथा कर्मयोग ये दोनों ही आत्मज्ञानी के द्वारा अनुष्ठित होने पर निःश्रेयसकरत्व (मोक्ष) रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है, इसलिए उनमें किस विशेष कारण से कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को विशिष्ट (श्रेष्ठ) कहा गया है ? अथवा अज्ञानी के द्वारा अनुष्ठित संन्यास एवं कर्मयोग—इन दोनों से ही निःश्रेयसकरत्व (अर्थात् मोक्षरूप फल) प्राप्त होने के कारण उनमें से कर्मयोग की प्रधानता कही गयी है ?

पूर्वपक्ष—ऐसा कहने का उद्देश्य क्या है ? चाहे आत्मवित् के द्वारा संन्यास तथा कर्मयोग की (क) कल्याणकारकता (मोक्ष प्रदान करने का सामर्थ्य) एवं (ख) उनमें से किसी विशेषता के कारण कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता कही गयी है अथवा अनात्मवित् (अज्ञानी) पुरुष के द्वारा अनुष्ठित किये हुए संन्यास तथा कर्मयोग के विषय में ही वे दोनों बातें कही गयी हों, उसके द्वारा क्या प्रतिपाद्यविषय का भेद सिद्ध होता है ?

उत्तरपक्ष—ऐसा कहने का उद्देश्य यह है कि आत्मज्ञानी के द्वारा (एकही समय में) कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग का अनुष्ठान होना असम्भव है। अतः आत्मज्ञानी को लक्ष्य कर कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग ये दोनों ही कल्याणकर हैं, ऐसा कहना एवं उनके द्वारा किये हुए (अनुष्ठित) कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बतलाना, ये दोनों बाते ही युक्तिसंगत नहीं है। और यदि ऐसा माना जाय कि अज्ञानीकर्तृक कर्मसंन्यास और उसके द्वारा ही विरुद्ध कर्मानुष्ठान रूप कर्मयोग के अनुष्ठान के बारे में यहाँ कहा गया है ऐसा यदि माना जाय तब ये दोनों ही (कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग) कल्याणकारक है एवं उनमें कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है—ये दोनों बातें ही बन सकती हैं। किन्तु आत्मज्ञानी के द्वारा कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग अनुष्ठित होना असम्भव है। इस कारण इन दोनों को ही कल्याणकारक (मोक्षप्रद) कहना एवं कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ कहना, ये दोनों बातें आत्मज्ञानी के लिए प्रयोज्य नहीं हो सकतीं।

पूर्वपक्ष—तुम्हारे कहने का अभिप्राय क्या यह है कि आत्मज्ञानी के द्वारा कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग ये दोनों का ही होना असम्भव है। अथवा दोनों में से किसी एक का सम्पादन करना असम्भव है ? यदि किसी एक का होना ही असम्भव है तो कर्म संन्यास का होना असम्भव है ? या कर्म

योग का साथ ही उसके असम्भव होने का कारण क्या है यह भी कहना पड़ेगा।

उत्तरपक्ष—तुम्हारे प्रश्न का समाधान यह है कि कर्मयोग विपर्यय-मूलक है अर्थात् मिथ्या ज्ञान न रहने पर किसी के द्वारा भी कर्मयोग अनुष्ठित नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञानी का मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो जाता है, इसलिए उनके द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करना असम्भव है। क्योंकि जो व्यक्ति जन्म आदि (जायते, अस्ति, वर्द्धते इत्यादि) समस्त विकारों से रहित निष्क्रिय आत्मा को अपनी आत्मा (अपना स्वरूप) मान लेते हैं, अतः जिसने सम्यग् दर्शन के द्वारा मिथ्याज्ञान को दूर हटा दिया है उस आत्मज्ञानी पुरुष के लिए निष्क्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थान रूप कर्म-संन्यास का उपदेश देकर उस कर्मसंन्यास से विपरीत मिथ्याज्ञानमूलक कर्त्तृत्वाभिमानपूर्वक सक्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थान कर जिस कर्मयोग का अनुष्ठान करना सम्भव होता है उसका (अर्थात् उस कर्मयोग का) अभाव ही प्रतिपादन कर रहे हैं। [अर्थात् कर्मसंन्यास और निष्क्रियात्मस्वरूप में अवस्थान करना एक ही बात है। जो तत्त्वज्ञानी ऐसी निष्क्रियात्मा में स्थित रहते हैं उनके लिए कर्मसंन्यास ही स्वाभाविक है। मिथ्याज्ञान तथा कर्त्तृत्वाभिमान-पूर्वक सक्रिय आत्मस्वरूप में अवस्थान करने से जिस कर्मयोग का अनुष्ठान सम्भव है वैसा कर्मयोग तत्त्वज्ञानी के लिए अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है इसे ही प्रतिपादन कर रहे हैं,] क्योंकि इस गीताशास्त्र में जहाँ जहाँ आत्मस्वरूप का निरूपण श्रीभगवान ने किया है उन उन स्थानों में यथार्थ ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान एवं उनका कार्य जो परस्पर विरुद्ध है उसे (पुनः पुनः) कहा गया है। इसलिए जिनका मिथ्या ज्ञान निवृत्त हो गया है ऐसे आत्मज्ञानी के लिए मिथ्याज्ञानमूलक कर्मयोग सम्भव नहीं है ऐसा कहना ठीक ही है।

पूर्वपक्ष—आत्मस्वरूप का निरूपण करने के उद्देश्य से किस किस प्रकरणों में ज्ञानी व्यक्ति के कर्म का अभाव प्रतिपादन किया गया है ?

उत्तरपक्ष—'अविनाशि तु तद्विद्धि' (गीता २।१७) अर्थात् इस आत्मा को अविनाशी जानो ऐसा प्रकरण शुरु कर 'य एनं वेत्ति हन्तारं' (गीता २।१९) अर्थात् हत्याकारी मानते हैं, 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (गीता २।२१) अर्थात् जो इस अविनाशी नित्य आत्मा को जानता है—इन वाक्यों के द्वारा स्थान स्थान पर ज्ञानी के कर्म का अभाव बताया गया है।

पूर्वपक्ष—किन्तु गीता के स्थान स्थान में ऐसा दिखाया गया है कि जहाँ आत्मस्वरूप का निरूपण किया गया है वहाँ कर्मयोग का भी प्रतिपादन किया गया है। जैसे 'तस्माद्युध्यस्व भारत' (गीता २।१८) अर्थात् इसलिये हे भारत। तुम युद्ध करो, 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' (गीता २।३१) अर्थात् स्वधर्म के प्रति लक्ष्य रखकर भी तुम्हें युद्ध से डरना नहीं चाहिए, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता २।४७) अर्थात् तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है इत्यादि। अतः आत्मज्ञानी के लिए कर्मयोग का होना असम्भव क्यों है ?

उत्तरपक्ष—इसलिये असम्भव है कि एक ओर सम्यग् ज्ञान एवं दूसरी ओर मिथ्याज्ञान तथा उनका कार्य ये परस्पर विरुद्ध हैं। गीता में 'ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्' (३।३) इस वचन के द्वारा आत्मतत्त्व को जो लोग जान गये हैं ऐसे सांख्ययोगियों को निष्क्रिय आत्मस्वरूप में स्थितिरूप ज्ञानयोगनिष्ठा को अज्ञानी पुरुष के द्वारा अनुष्ठित कर्मयोग निष्ठा से पृथक् कर दिखाया गया है। आत्मज्ञानी परमार्थ दर्शन के द्वारा कृतकृत्य हो जाते हैं, इसलिए उन्हें अन्य सब प्रयोजनों का अभाव हो जाता है। अतः ज्ञानी का दूसरा कोई कर्त्तव्य भी नहीं रहता है। इसलिए गीता में कहा गया है 'तस्य कार्यं न विद्यते' (३।१७) अर्थात् उनका कोई कार्य नहीं रहता है [तब जो ज्ञान होने के पहले कर्मयोग का अनुष्ठान करने के लिये कहा गया है उसका एकमात्र कारण यह है कि कर्मयोग चित्तशुद्धि उत्पन्न कर आत्मज्ञान प्राप्त करने का अनिवार्य उपाय है]। इसलिए ही 'न कर्मणामनारम्भात्' (गीता ३।४) अर्थात् कर्म के आरम्भ के विना ज्ञाननिष्ठा नहीं होती है 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' (गीता ५।६) हे महाबाहो, विना कर्मयोग के संन्यास प्राप्त करना कठिन है इत्यादि वचनों के द्वारा कर्मयोग को आत्मज्ञान के अंग के रूप में विधान किया गया है। 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' (गीता ६।३) इत्यादि वचन के द्वारा जिसको सम्यग् दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे तत्त्वज्ञानी के लिये कर्मयोग का अभाव बताया गया है। 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' (गीता ४।२१) अर्थात् केवल शरीर सम्बन्धीय कर्म करते रहने पर भी मनुष्य पाप नहीं प्राप्त करता है। इस प्रकार के वचन के द्वारा भी ज्ञानी के लिए शरीर-स्थिति के लिए नितान्त प्रयोजनीय कर्मों के अतिरिक्त कर्मों का निवारण किया गया है। पुनः 'नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' (गीता ५।८) अर्थात् तत्त्ववेत्ता योगी मानते हैं कि मैं कुछ भी नहीं करता इस प्रकार के कथन से शरीर-यात्रा के लिये किये जाने वाले दर्शन, श्रवण आदि कर्मों में भी आत्मस्वरूप के यथार्थदर्शी के (तत्त्वज्ञानी) 'मैं कर रहा हूँ

या करता हूँ' इस प्रत्यय को (चित्तवृत्ति को) समाहितचित्त के द्वारा दूरीकृत करने का (हटाने का) उपदेश दिया गया है जिससे तत्त्वदर्शी इन कर्मों में सर्वदा अकर्त्तव्यबुद्धि रख सकें। इन सब कारणों से आत्मतत्त्ववेत्ता पुरुष के लिए सम्यग् दर्शन के विरुद्ध (सर्वत्र ब्रह्म दर्शन के विरुद्ध) एवं मिथ्याज्ञान से उत्पन्न कर्मयोग का अनुष्ठान स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। अतः अनात्मवित् अर्थात् अज्ञानी पुरुषको लक्ष्य करके ही संन्यास तथा कर्मयोग को कल्याणकारक (मोक्षदायक) कहा गया है एवं उस अज्ञानी के लिए ही कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की श्रेष्ठता का विधान है। कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञानी का कर्मसंन्यास पूर्वोक्त आत्मज्ञानी के कर्मसंन्यास से विलक्षण (पृथक्) है क्योंकि अज्ञानी के कर्म में कर्तृत्वाभिमान रहने के कारण उनका कर्मसंन्यास एकदेशीय है [अर्थात् इस प्रकार के संन्यास में गृहस्थाश्रम के कर्म का त्याग हो जाता है किन्तु संन्यासआश्रम के कर्मों में (यम नियमादि में) अभिमान रहता है। इसलिए इसे एकदेशीय संन्यास कहा जाता है]। इसके अतिरिक्त संन्यासाश्रम के यम नियमादि रूप साधनों का अनुष्ठान करना तत्त्वज्ञान का उदय न होने तक अवश्य कर्त्तव्य है किन्तु (अशुद्धचित्त व्यक्ति के लिए) उनका अनुष्ठान करना अत्यन्त कठिन है। ऐसे संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग सुकर अर्थात् सुसाध्य है। इसलिए ही कर्मयोग कर्मसंन्यास से विशिष्ट (श्रेष्ठ) माना गया है।

इस प्रकार श्रीभगवान् अर्जुन के प्रश्न का जो उत्तर बाद में देंगे उसका अर्थनिरूपण करने से ही प्रश्नकर्ता अर्जुन का अभिप्राय क्या है—वह जैसा पहले कहा गया है वैसा ही निश्चित होता है, यह सिद्ध हुआ।

'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते' इस श्लोक के द्वारा ज्ञान तथा कर्म का एकसाथ अनुष्ठान होना असम्भव है ऐसा मानकर इन दोनों में जो कल्याणकर है वह मुझे कहो, अर्जुन के श्रीभगवान् को ऐसा पूछने पर श्रीभगवान् ने यह निर्णय किया कि सांख्ययोगी संन्यासी की (जिन्होंने ज्ञानपूर्वक कर्मत्याग किया है ऐसे संन्यासी की) निष्ठा (मोक्षप्राप्ति) ज्ञानयोग द्वारा एवं योगियों को अर्थात् कर्म में ही जिनका अधिकार है ऐसे योगियों की निष्ठा (मोक्षप्राप्ति) कर्मयोग के द्वारा होती है [अर्थात् पहले कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि लाभकर उसके बाद तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति होती है], ऐसा ही शास्त्र में विशेष रूप से कहा गया है।

(भाष्यभूमिका समाप्त)

केवल संन्यास करने से ही सिद्धिप्राप्ति नहीं होती है ऐसा जो कहा गया है (गीता ३।४) उसके द्वारा यही विधान किया गया है कि ज्ञानसहित संन्यास ही सिद्धि का (मोक्ष का) साधन है। ज्ञानरहित संन्यास से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती है। अतः (ज्ञान का उदय न होने तक) कर्मयोग का विधान किया गया है। पूर्ववर्ती अध्याय में संन्यास तथा कर्मयोग इन दोनों का ही विधान किये जाने पर अर्जुन ने ठीक-ठीक समझा नहीं कि ज्ञानरहित संन्यास श्रेष्ठ है अर्थात् कल्याणकर है (मोक्ष का साधन है) अथवा कर्मयोग श्रेष्ठ (कल्याणकर) है। इन दोनों की विशेषता जानने की इच्छा से ही अर्जुन ने प्रश्न किया—

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगश्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अर्जुनः उवाच—हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं पुनः च योगं शंससि। एतयोः यत् श्रेयः तत् एकं सुनिश्चितं मे ब्रूहि।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! तुम एक बार शास्त्रीय कर्मों का संन्यास (त्याग) करने का उपदेश दे रहे हो, पुनः कर्मयोग का अनुष्ठान करने का उपदेश दे रहे हो। इन दोनों में से जो एक उपाय प्रकृतरूप से श्रेयः है वह मुझे निश्चितरूप से कहो।

भाष्यदीपिका—अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण—हे हे सच्चिदानन्द स्वरूप! 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' (विष्णुपुराण) अर्थात् कृषिशब्द का अर्थ है सत्ता या सत् एवं ण शब्द का अर्थ है आनन्द। सत् तथा आनन्द का जो ऐक्यरूप है (अर्थात् सदानन्दरूप जो परब्रह्म है) उन्हें ही कृष्ण कहा जाता है। अथवा भक्त के दुःखराशि को कर्षण (हरण) करते हैं इसलिए भगवान् को कृष्ण कहा जाता है; अथवा 'कृष्णाति निवारयति अज्ञान-दोषानिति कृष्णः' [जो भक्त के अज्ञानजनित दोषों का निवारण अर्थात दूर करते हैं वे ही कृष्ण हैं); अथवा 'कर्षति आकर्षति भक्तान् इति कृष्ण' अर्थात् भक्तों को सदा ही अपने ओर आकर्षित कर जो अपने साथ एकीभूत कर लेते हैं वे ही कृष्ण हैं। अर्जुन का यहाँ 'कृष्ण' कहकर सम्बोधन करना इसलिये बहुत ही गम्भीरतापूर्ण है। (परमात्मा)। कर्मणां संन्यासं

शंससि—शास्त्रीय कर्म के अनेक प्रकार के अनुष्ठानविशेषों का संन्यास (परित्याग) करने का उपदेश दे रहे हो। पुनः च योगं शंससि—पुनः 'कुरु कर्म्मैव तस्मातत्वम्' (गीता ४।१५) अर्थात् इसलिए तुम कर्म करो, 'योगमातिष्ठ' (गीता ४।४२) अर्थात् कर्मयोग अवलम्बन करो, ऐसा कहकर कर्मयोग का अनुष्ठान (अर्थात् शास्त्रविहित कर्म निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से करना) अवश्य कर्तव्य है वह भी कह रहे हो। एतयोः यत् श्रेयः— अतः इन दोनों में से मेरे लिए कौन-सा अधिक प्रशस्त (कल्याणकर) है वह समझ नहीं पा रहा हूँ। अतः मेरे लिए कर्मानुष्ठान करना श्रेयः होगा (मोक्ष का साधन होगा) अथवा कर्म का परित्याग करना श्रेयः होगा। तत् एकं सुनिश्चितं मे ब्रूहि—उनमें किसी एक को निश्चय कर मुझे कहो। कर्मसंन्यास तथा कर्मानुष्ठान परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक ही पुरुष के द्वारा एक ही समय में उन दोनों का सम्पादन होना सम्भव नहीं है। अतः कर्मसंन्यास तथा कर्मानुष्ठान में से जिस एक उपाय का अनुष्ठान करने से मुझे श्रेयः की प्राप्ति होगी उसे सुनिश्चित (उत्तमरूप से निश्चित) कर मुझे (अर्थात् संशयव्याकुलचित्त मुझे) कहो (ताकि मैं उसीके अनुष्ठान में प्रयत्नशील हो सकूँ)।

टिप्पणी (१)—मधुसूदन—पूर्ववर्ती दो अध्यायों में कर्म तथा ज्ञान का स्वरूप निर्णय किया गया है। अब दो अध्यायों में (पंचम तथा षष्ठ अध्यायों में) कर्म तथा कर्मसंन्यास के अधिकारियों का निर्णय किया जा रहा है। तृतीय अध्याय में 'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते' इत्यादि प्रश्न अर्जुन के करने पर श्रीभगवान् ने ज्ञान तथा कर्म का विकल्प या समुच्चय सम्भव नहीं है ऐसा कहकर ज्ञान तथा कर्म के अधिकारियों में जो भेद है उसे 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया' (३।३) इत्यादि कहकर निर्णय किया है। कर्म (कर्मयोग का अनुष्ठान) के सम्बन्ध में भगवान् का निर्णय इस प्रकार है—

(क) कर्म का अधिकारी अज्ञव्यक्ति होता है। वह कर्म ज्ञान के साथ समुच्चित (मिलित) नहीं हो सकता है क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार की तरह वे भी परस्पर विरुद्ध होने के कारण उन दोनों का युगपत् (एक ही समय में) अनुष्ठान करना असम्भव है।

(ख) (अज्ञानजनित) भेदबुद्धि जब तक रहती है तब तक ही कर्म में अधिकार रहता है। तत्त्वज्ञान से उस अज्ञान का नाश होने पर भेद-

बुद्धि का भी नाश होता है अतः तत्त्वज्ञानी को कर्म करना असम्भव है क्योंकि ज्ञान और कर्म परस्पर विरोधी हैं।

(ग) कर्म तथा ज्ञान का विकल्प भी सम्भव नहीं है अर्थात् यदि कहो कि कर्म तथा ज्ञान में किसी एक से मोक्षरूप प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है तो ऐसा कहना संगत नहीं होगा। कर्म तथा ज्ञान में एकार्थत्व (एक ही प्रयोजन सिद्धि का सामर्थ्य) नहीं है क्योंकि ज्ञान से अज्ञान का नाश होता है किन्तु वह कर्म के द्वारा कभी भी सम्भव नहीं होता। इसलिये श्रुति में कहा गया है 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० उ० ३।८) अर्थात् केवल उस आत्मतत्त्व को जानकर (आत्मतत्त्व के ज्ञान के द्वारा ही) लोग अतिमृत्यु (मुक्ति) प्राप्त कर सकते हैं, मोक्ष प्राप्त करने का और कोई पथ नहीं है। [इसलिए श्रुतिवाक्य में 'विदित्वा' पद के द्वारा वेदन या ज्ञान को ही मुक्ति का कारण माना गया है]।

(घ) ज्ञान उत्पन्न होने पर और कर्तव्य कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है। इसे 'यावानर्थ उदपाने' (गीता २।४६) इत्यादि श्लोक में कहा गया है।

(ङ) अतः ज्ञानी का कर्म में अधिकार नहीं है ऐसा जब निश्चित हुआ है तब ज्ञानी व्यक्ति प्रारब्ध कर्मों के वश से कर्मानुष्ठान करें या कर्मसंन्यास (त्याग) करें सभी उसके लिए संगत हैं, इसे चतुर्थ अध्याय में निर्णित किया गया है।

(च) किन्तु अज्ञव्यक्ति की अन्तःकरणशुद्धि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति के लिए अवश्य कर्मों का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है क्योंकि श्रुति कहती हैं—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृह० उ० ४।४।२२) अर्थात् ब्राह्मण लोग इस आत्मतत्त्व को वेदाध्ययन के द्वारा, यज्ञ के द्वारा, दान के द्वारा एवं अनशनपूर्वक तपस्या के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं। गीता में श्रीभगवान् ने भी कहा है 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' (हे पार्थ! सभी कर्म निर्विशेषरूप से (निःशेषतया) ज्ञान में ही परिसमाप्त हो जाते हैं)। इस प्रकार शास्त्रवाक्य से विदित होता है कि सभी (शास्त्रविहित निष्काम) कर्म तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है। पुनः श्रुति में कहा गया है कि सर्वकर्म का संन्यास भी ज्ञान के लिए ही होता है। यथा—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति, (बृह० उ० ४।४।२२) (संन्यासी लोग इस आत्मलोक को जानकर ही प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास अवलम्बन करते हैं), 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूतात्म-

न्येवात्मानं पश्येत् (बृह० उ० ४।४।२२) (शम, दम, उपरति तथा तितिक्षा-युक्त होकर चित्त को समाहित अर्थात् स्थिरीकृत कर अपने में ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना होगा), 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्' (कर्मत्याग करके ही त्यागकर्ता जिसे अर्थात् जिसे जानना होगा उस प्रत्यक् आत्मा को विदित होने में समर्थ होता), 'सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुञ्च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' (सत्य तथा मिथ्या, सुख तथा दुःख, वेदोक्त कर्म एवं इहलोक तथा परलोक सब परित्याग कर आत्मा का ही अन्वेषण करना चाहिए)। [इन शास्त्र वाक्यों के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि कर्म ज्ञान लाभ का साधन है। अतः ज्ञान व कर्म का समुच्चय (एकत्र अनुष्ठान) सम्भव नहीं है]।

(छ) इसके प्रयाज (दर्शपूर्णमासादि यज्ञ का अंगभूत याग) तथा अवघात की तरह कर्म तथा कर्मत्याग मोक्षप्राप्ति के लिये क्रमशः—आराद्-उपकारक (गौणरूप से उपकारक) तथा सन्निपत्योपकारक (मुख्यरूप से उपकारक) है। अतः वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण उनका एक ही समय एक ही व्यक्ति के द्वारा अनुष्ठान होना सम्भव नहीं है। [दर्शपूर्णमासनामक यज्ञ में प्रयाज आदि यज्ञांग का अनुष्ठान किया जाता है। इन्हें उक्त यज्ञ का सन्निपत्योपकारक अर्थात् प्रधानकर्म या अर्थकर्म कहा जाता है। पुनः जो व्रीहि प्रभृति द्रव्यादि के द्वारा उस अंगकर्म का अनुष्ठान करना पड़ता है उस द्रव्यादि के प्रोक्षण, अवघात आदि को उस यज्ञ का आरादुपकारक अर्थात् गुणकर्म अथवा संस्कारकर्म अथवा आश्रयिकर्म कहा जाता है। प्रयाज प्रधान कर्म होकर यज्ञ का सन्निपत्योपकारक होता है एवं व्रीहि प्रभृति के प्रोक्षण (अर्थात् धोना), अवघात (अर्थात् कूटना) इत्यादि कर्म प्रधान कर्म प्रयाज का निष्पादक (समाप्ति करने का सहायक) होने के कारण यज्ञ के लिए आरादुपकारक होते हैं; किन्तु वे विभिन्न काल में अनुष्ठित होने के कारण जैसे इनका समुच्चय (मिलितरूप से अनुष्ठान) सम्भव नहीं है वैसे कर्म ज्ञानोत्पत्ति का आरादुपकारक होने के कारण एवं संन्यास (कर्मत्याग) उस ज्ञानोत्पत्ति का सन्निपत्योपकारक होने के कारण उनका (अर्थात् कर्म तथा कर्मसंन्यास का) समुच्चय (एक साथ, एकही समय में अनुष्ठान) सम्भव नहीं है]।

(ज) और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जब कर्म तथा कर्मत्याग दोनों का ही एकमात्र फल या प्रयोजन है आत्मज्ञानोत्पत्ति तब ज्योतिष्टोम याग की संस्था विशेष में अतिरात्र नामक यज्ञ सम्पादन करने के लिए जिस

प्रकार षोडशी नामक यज्ञपात्र के ग्रहण की विधि है, तथा उसका निषेध भी किया गया है, उस प्रकार इस स्थान में भी विकल्प हो अर्थात् कर्म अथवा कर्मसंन्यास—इनमें किसी एक को अवलम्बन करने पर ज्ञानोत्पत्ति होगी, ऐसा यदि कहूँ ? उत्तर में कहा जायगा—नहीं, ऐसा विकल्प नहीं हो सकता है क्योंकि अत्यन्त विरुद्ध कर्म तथा कर्मसंन्यास में द्वार भेद रहने के कारण एकार्थत्व नहीं है अर्थात् दोनों के द्वारा एक ही प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है। पापक्षय रूप अदृष्ट ही है यज्ञादि कर्मों का द्वार अर्थात् उन कर्मों का प्रयोजन हैं चित्त की पापरूप मलिनता नाश.कर कर्मकर्ता को ज्ञान के योग्य कर देना (अतः कर्म ज्ञान का द्वार है)। किन्तु संन्यास के फलस्वरूप चित्त में विक्षेप का अभाव रहने के कारण आत्मतत्त्व विचार में अवसर प्राप्त होना सम्भव है एवं उस विचार में जो प्रवृत्ति होती है वही ज्ञान का दृष्ट द्वार-स्वरूप होता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म पापक्षय तथा चित्त-शुद्धि के द्वारा परम्पराक्रम से तत्त्वज्ञान का द्वार (उपाय) है और सर्वकर्म-संन्यास से विक्षेपरहित मनन या विचार सम्भव होने के कारण वह साक्षात् तत्त्वज्ञान का द्वार (उपाय) होता है]।

(झ) पुनः यहाँ मीमांसकों की 'नियमापूर्व' तब भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि व्रीहि प्रभृति में जिस मूषल के द्वारा अवघात (कूटना) किया जाता है उससे नियमविधि के फलरूप से 'अपूर्व' (अदृष्ट) की उत्पत्ति होने पर भी वह अपूर्व दृष्ट समवायी होता है अर्थात् उस अवहनन का जो दृष्टफल तुष विवेचन (तुष को जौ प्रभृति से पृथक् करना) है उसके साथ समवेत होकर उत्पन्न होता है। किन्तु कर्म का वैसा कोई दृष्टफल नहीं है। अतः कर्म 'नियमापूर्वयुक्त' होकर ज्ञान का द्वार नहीं हो सकता है। पुनः संन्यास के फलस्वरूप वेदान्त विचार में जो प्रवृत्ति होती है वह अदृष्ट स्वरूप नहीं है—वह दृष्टद्वारस्वरूप है। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्म है अदृष्टार्थ अर्थात् कर्म का विषय या प्रयोजन है अदृष्ट (चित्तगत) पुनः कर्म ज्ञान का आरादुपकारक है किन्तु कर्मसंन्यास का अर्थ (विषय या प्रयोजन) है दृष्ट एवं वह ज्ञान का सन्निपत्योपकारक है। [जो दूर से उपकारक है (जैसे कर्म चित्तशुद्धि उत्पन्न कर ज्ञान का उपकारक या सहायक होता है) उसे आरादुपकारक कहा जाता है और जो साक्षात् रूप से उपकारक है (जैसे कर्म-संन्यास ज्ञान का) उसे सन्निपत्योपकारक कहा जाता है]। अतः वे दोनों ही एक ही प्रधान के (तत्त्वज्ञान के) निमित्त होने पर भी उनमें विकल्प हो ही नहीं सकता है। यदि ऐसे स्थान में विकल्प सम्भव होता तब

दर्शपूर्णमासनामक यज्ञ में प्रयाज तथा अवघात आदि का भी विकल्प हो सकता था। अतः कर्म तथा कर्मत्याग दोनों का ही क्रमिक रूप से—अनुष्ठान करना चाहिए।

(ख) यदि कहो कि कर्मानुष्ठान के बाद जैसे कर्मसंन्यास क्रमिक-रूप से होता है उस प्रकार संन्यास के बाद पुनः कर्मानुष्ठान क्यों नहीं होगा ? इसके उत्तर में कहूँगा कि नित्यनैमित्तिक आदि कर्म गृहस्थाश्रम में ही सम्भव है। गृहस्थाश्रम का परित्याग कर संन्यास लिया जाता है। उस गृहस्थाश्रम को पुनः स्वीकार करने पर शास्त्र के अनुसार आरूढ़पतित होता है एवं इस कारण शास्त्रीय कर्म में उनका और अधिकार नहीं रहता है तथा पहले जो संन्यास लिया गया वह भी व्यर्थ हो जाता है क्योंकि संन्यास का अदृष्टार्थत्व नहीं है (अर्थात् संन्यास से किसी अदृष्ट प्रयोजन को सिद्धि नहीं होती है—यह पहले ही कहा गया है)। इसके अतिरिक्त पहले जो संन्यास ग्रहण किया गया उसके द्वारा ही यदि ज्ञान के अधिकार की प्राप्ति हो तब उसके परवर्ती समयों में कर्मानुष्ठान व्यर्थ ही होगा (क्योंकि कर्मयोग के अनुष्ठान का अन्तिम उद्देश्य है उस ज्ञान की प्राप्ति)। अतः पहले भगवदर्पण बुद्धि के द्वारा निष्कामकर्म के अनुष्ठान के फलस्वरूप चित्तशुद्धि की उत्पत्ति होने पर तीव्र वैराग्यवशतः विविदिषा (आत्मतत्त्व जानने की इच्छा) दृढ़ होती है एवं उसके पश्चात् श्रवणमननादिरूप वेदान्त वाक्य विचार के लिए सभी कर्मों का संन्यास (त्याग) करना कर्त्तव्य है—यही भगवान् को अभिमत है। इसलिए ही शास्त्र में कहा गया है—'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (गीता ३।४) अर्थात् कर्म के अनुष्ठान के बिना कोई व्यक्ति नैष्कर्म्य (कर्म-संन्यास) प्राप्त नहीं कर सकता है। बाद में भी भगवान् कहेंगे—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥' (गीता ६।३) अर्थात् जो योग में आरोहण करने की इच्छा करते हैं उनके लिए कर्म ही उस योग का कारण होता है, पुनः जब वे योग में आरूढ़ हो जाते हैं तब उनके लिए शम अर्थात् कर्मसंन्यास ही कारण (करणीय) माना जाता है। इस स्थान में 'योग' शब्द का अर्थ है तीव्रवैराग्यपूर्वक विविदिषा (तत्त्वज्ञान जानने की इच्छा)। इसलिए वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने कहा है-"प्रत्यग्विविदिषासिद्ध्यै वेदानुवचनादयः। ब्रह्मावाप्त्यै तु तत्त्याग ईप्सन्तीति श्रुतेर्बलात्"। (बृह० वा० सार १२) अर्थात् वेदानुवचनादि जो समस्त कर्म श्रुति में विहित हैं उसका मुख्य उद्देश्य है प्रत्यगात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में विविदिषा (जानने की इच्छा) उत्पन्न करना। किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के लिए

तत्त्वज्ञानी उन कर्मों का त्याग करने की हो इच्छा करते हैं यह 'ईप्सन्ति' इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा सिद्ध होता है। स्मृति में भी कहा गया है–'कषाय पंक्तिः कर्मभ्यो ज्ञानन्तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते अर्थात् कर्मसमूहों से कषाय (रागद्वेषादि रूप चित्त की मलिनता) पक्व (क्षीण) हो जाते हैं किन्तु ज्ञान ही परमगति है। (निष्काम) कर्म के द्वारा कषाय क्षीण होने पर उसके बाद ज्ञान की प्रवृत्ति होती है अर्थात् तत्त्वज्ञान का उदय होता है। मोक्षधर्म में भी ऐसा ही कहा गया है—'कषायं पाचयित्वा च श्रेणी स्थानेषु च त्रिषु। प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्। भावितैः कारणैश्चायं बहुसंसारयोनिषु। आसादयति शुद्धात्मा मोक्षं वै प्रथमाश्रमे॥ तमासाद्य तु मुक्तस्य दृष्टार्थस्य विपश्चितः। त्रिष्वाश्रमेषु कोऽन्वर्थो भवेत् परम-भीप्सितः,। अर्थात् तीन श्रेणी रूप तीन आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य तथा तथा वानप्रस्थ इन तीनों आश्रमों में) कषाय को (रागद्वेष, काम क्रोध) इत्यादि को क्षीण कर अनन्तर पारिव्राज्यरूप अति उत्तम स्थान में गमन करना चाहिए (संन्यास ग्रहण करना चाहिए)। पुनः संसार-चक्र में अनेक योनियों में भ्रमण कर इन्द्रिय प्रभृति संयत होकर जो शुद्धात्मा हो गये हैं वे प्रथमाश्रम में ही (ब्रह्मचर्याश्रम में ही) मोक्ष अर्थात् वैराग्य प्राप्त होते हैं। इन दृष्ट विषय-समूहों में वैराग्य लाभ कर जो विवेकी मुक्तिरूप प्रयोजन का अनुभव करते हैं उनका परवर्ती तीनों आश्रमों के द्वारा और क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? इसके द्वारा क्रम संन्यास तथा अक्रम संन्यास दोनों प्रकार के संन्यास को ही यहाँ दिखाया गया है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रम धर्मों को क्रमशः पालन कर वैराग्यवान् होकर जिस संन्यास का ग्रहण किया जाता है उसका नाम है 'क्रम' संन्यास। और पूर्वजन्म की सुकृति के फलस्वरूप जिनकी इस जन्म में ब्रह्मचर्य आदि आश्रम में ही चित्तशुद्धि हो जाती है उनका उस विशेष आश्रम से जिस संन्यास का ग्रहण होता है उसे 'अक्रम' संन्यास कहा जाता है। श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्-वनीभूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जाबाल० उ० ४) अर्थात् ब्रह्मचर्य समापन कर गृही होओगे, गृहस्थाश्रम से वनी (वानप्रस्थाश्रमी) होकर बाद में प्रव्रज्या (संन्यास) अवलम्बन करोगे। और यदि पहले ही चित्तशुद्धि प्राप्त हो तब ब्रह्मचर्याश्रम ही अथवा गृहस्थाश्रम से ही अथवा वानप्रस्थाश्रम से ही संन्यास अवलम्बन करोगे अर्थात् जिस समय वैराग्य उपस्थित होगा उस समय ही संन्यासग्रहण करना चाहिए। अतः जब तक अज्ञ रहता है एवं वैराग्य

उत्पन्न नहीं होता है तबतक ही कर्मानुष्ठानविहित है। पुनः उस व्यक्ति का ही जब वैराग्य उपस्थित होगा तब उन्हे श्रवणादिरूप वेदान्त वाक्य विचार के द्वारा ज्ञानोत्पत्ति के लिए संन्यास अवलम्बन करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार एक ही अज्ञ व्यक्ति के लिए कर्मानुष्ठान एवं कर्मसंन्यास दोनों का ही विधान अवस्था के भेद के अनुसार किया गया है। इसी की व्याख्या करने के लिए ही पंचम तथा षष्ठ अध्याय का प्रारम्भ (शुरुआत) हुआ है। विद्वत्—संन्यास ज्ञान के प्रभाव से अर्थात् (स्वाभाविक रूप से ही) सिद्ध होने के कारण उस विषय में किसी का भी कोई सन्देह नहीं रह सकता है—इस कारण उसका विचार यहाँ नहीं किया गया है। इस प्रकार एक ही जिज्ञासु अज्ञव्यक्ति के ज्ञान लाभ के लिये जब कर्म तथा कर्मसंन्यास दोनों का ही विधान किया गया है और वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण जब एक ही समय में एक ही व्यक्ति के द्वारा उन दोनों का अनुष्ठान असम्भव है तब 'मेरे जैसे जिज्ञासु के लिए अब किसका अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार संशयापन्न होकर अर्जुन ने प्रश्न किया 'संन्यासं कर्मणां कृष्ण इत्यादि'। [प्रथम श्लोक की मधुसूदनी व्याख्या का तात्पर्य भाष्यदीपिका में सन्निवेश किया गया है]।

(२) श्रीधर—['निवार्य्य संशयं जिष्णोः कर्मसंन्यासयोगयोः। जितेन्द्रियस्य च यतेः पञ्चमे मुक्तिमब्रवीत्॥' अर्थात् श्रीभगवान् ने पंचम अध्याय में कर्मयोग तथा संन्यासयोग के सम्बन्ध में अर्जुन के संशय को दूर कर जितेन्द्रिय यति की मुक्ति का उपाय बताया है। पूर्व अध्याय के अन्त में अज्ञानजनित संशय को ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा छेदन कर अर्जुन को कर्मयोगमें स्थित होने के लिए श्रीभगवान् ने आदेश दिया। उसमें पहले कर्मसंन्यास के विषय में कहकर तथा बाद में कर्मयोग का अनुष्ठान करने का आदेश देने के कारण पूर्वापर विरोध मानता हुआ] अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! कर्मणां संन्यासं पुनः योगं च—तुमने पहले कहा कि जिनकी केवल आत्मा में ही रति होती है उनके लिए और कोई कर्म नहीं रहता है (३।१७) एवं ज्ञान में ही समुदय कर्मों की परिसमाप्ति हो जाती है (४।३३)। इस प्रकार तुमने ज्ञानी के लिए कर्मसंन्यास करना है ऐसा कहा। पुनः अज्ञान से उत्पन्न संशय को ज्ञानरूप खड्ग के द्वारा छेदन कर कर्मयोग का आश्रय करने को कह रहे हो (गीता ४।४२)। परन्तु कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग एक साथ एक व्यक्ति के द्वारा सम्भव नहीं है, क्योंकि वे परस्परविरुद्ध हैं। अतः एतयोः यत् श्रेयः तत् एकं सुनिश्चितं मे ब्रूहि—कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग इन

दोनों में से एक का ही अनुष्ठान करना सम्भव होने के कारण मेरे लिये जो सुनिश्चितरूप से श्रेयस्कर (श्रेष्ठ) होगा उसे निश्चय कर मुझे कहो।

(३) शंकरानन्द—चतुर्थ अध्याय में 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' (४।१८) इस प्रकार आरम्भ कर कर्मसंन्यास का उपक्रम कर 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' (४।१९), 'शारीरं केवलं कर्म' (४।२१), 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' (४।२२), 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ' (४।३३), 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' (४।३७), 'योग-संन्यस्तकर्माणम्' (४।४१)—इन वाक्यों के द्वारा ब्रह्मविद् ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का कर्मसंन्यास ही कर्त्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन कर अब कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग ये दोनों ही एक ही समय में एक ही पुरुष के द्वारा अनुष्ठित होना सम्भव नहीं है किन्तु दोनों ही अन्तरंग तथा बहिरंग साधन के रूप से एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिये उपयोगी है अर्थात् यद्यपि कर्मसंन्यास तथा कर्म-योग दोनों का ही फल एक ही (मोक्ष) है तथापि वे साध्य-साधन भाव से यथाक्रम पीछे और पहले होनेवाले हैं अर्थात् कर्मरूप साधन के द्वारा ज्ञानरूप साध्य की प्राप्ति होने के बाद ब्रह्मविद् का कर्तव्य कर्मसंन्यास ही है, इत्यादि अर्थ निरूपण करने के लिए पंचम अध्याय का प्रारम्भ किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ में 'लोकसंग्रहमेवापि' (लोक संग्रह के लिए भी विद्वान् को कर्म करना चाहिए—गीता ३।२०), इस प्रकार कर्मयोग का उपक्रम कर अन्त में 'वर्त एव च कर्मणि', (३।२२) अर्थात् 'मैं कर्म में ही वर्तता हूँ' इत्यादि कहकर श्रीभगवान् ने कर्मयोग में अपना दृष्टान्त देकर 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (३।२८) अर्थात् गुण गुणों में ही रहते हैं इस न्याय (युक्ति) के द्वारा कर्मानुष्ठान करना कर्तव्य है, इस प्रकार अनुष्ठान की प्रक्रिया का सूचना किया। पुनः 'एवं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' (४।१५) अर्थात् इस प्रकार पूर्ववर्ती सत्पुरुषलोग पूर्वकाल में किये थे इत्यादि वाक्यों के द्वारा दिखाया कि यह कर्मयोग शिष्टपुरुषों के द्वारा सम्पत है। दूसरी ओर 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' (—४।१५), अतः तुम कर्म ही करो 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' (खड़े हो जाओ अर्थात् उद्योगी होओ, कर्मयोग का अनुष्ठान करो ४।४२) इत्यादि वाक्यों के द्वारा संन्यास के साथ कर्मयोग उपदिष्ट होने के कारण कर्मसंन्यास और कर्मानुष्ठान दोनों युगपत् (एक ही साथ) सभी के लिए ही कर्तव्य के रूप से प्राप्त होते हैं। चक्षु उन्मीलन (खोलना) तथा निमीलन (बन्द करना) जिस प्रकार एक साथ सम्भव नहीं है क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं, उस प्रकार कर्मसंन्यास तथा कर्मानुष्ठान एक ही पुरुष के द्वारा होना असम्भव है। अतः इन दोनों में से 'किसी एक को करना है' ऐसा प्राप्त होने पर अब इन

दोनों में से जो पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्ति का श्रेष्ठतर साधन (सहायक) है उसे जान लेने पर उसी का ही सम्पादन अर्जुन कर सकेगा ऐसा समझकर इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ हैं ? इसे जानने की इच्छा कर अर्जुन ने कहा— 'संन्यासम्' इत्यादि—

शंका—'यहाँ कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग दोनों में जो श्रेष्ठ है वह मुझे कहो' ऐसा जो प्रश्न अर्जुन ने किया वह क्या (क) जो कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास विद्वान् को करने के हैं उनको लक्ष्य कर किया गया है, (ख) या जो अविद्वानों के कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास है उनको लक्ष्य कर किया गया है अथवा (ग) विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों के द्वारा करना पड़ेगा जो कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास उन दोनों को लक्ष्य कर किया गया है ?

समाधान—प्रथमपक्ष तो युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि निरन्तर समाधि से उत्पन्न सम्यक् ज्ञान द्वारा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार निष्क्रिय परब्रह्म में आत्मभाव प्राप्त कर सदा ब्रह्मस्वरूप में ही जो ब्रह्मवित् यति स्थित रहते हैं उनके ब्रह्मज्ञान से विपरीत अज्ञान से (अर्थात् आत्मा के स्वरूप विषयक अज्ञान से) अनात्म देहेन्द्रियादि में तादात्म्य (एकत्व) बुद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए केवल अहंकार ही जिसका कारण है वह कर्मयोग ब्रह्मविद् के लिए किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने से अन्धकार का रहना सम्भव नहीं है उस प्रकार अज्ञान के विरोधी सम्यक् ज्ञान की उत्पत्ति होने पर अज्ञान की स्थिति सम्भव नहीं है। अतः विद्वान् की अनात्मदेहेन्द्रियादि में तादात्म्य बुद्धि सम्भव नहीं है। यह तादात्म्य बुद्धि असम्भव होने पर उसका कार्य (अर्थात् अनात्म देहेन्द्रियादि में तादात्म्यबुद्धि से ही उत्पन्न होनेवाला) अहंकार भी सम्भव नहीं है। पुनः अहंकार न रहने पर वह अहंकार ही जिसका कारण है वह कर्मयोग स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार जाग्रत अवस्था के साथ स्वप्न के पदार्थ का कोई सम्बन्ध नहीं रहता है उस प्रकार ब्रह्मविद्या में जाग्रत ब्रह्मविद् का अनात्मतादात्म्य एवं उनके कार्य के (अहंकार तथा तज्जनित कर्मानुष्ठान के) साथ सम्बन्ध रहना सम्भव नहीं है क्योंकि वैसा सम्बन्ध रहने पर कृतकृत्यता के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा अर्थात् ब्रह्मविद् का मुक्तिलाभ असम्भव होगा। किन्तु, 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' इस प्रकार अनुभव कर ब्रह्मविद् कृतकृत्य होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। (अतः ब्रह्मविद् का अहंकारपूर्वक कर्मानुष्ठान रहने से वह उस प्रत्यक्ष कृतकृत्यता से विरुद्ध होगा।) पुनः श्रुति एवं स्मृति में कहा गया है 'तद्ब्रह्माऽहमस्मीति कृतकृत्यो भवति' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ ऐसा अनुभव कर

ज्ञानी व्यक्ति कृतकृत्य हो जाते हैं), 'नैवाऽस्ति किंचित्कर्तव्यम्' अर्थात् ब्रह्मविद् का कोई कर्तव्य नहीं रहता है। अतः ब्रह्मविद् के लिये यदि कर्मयोग निहित हो तब वैसी श्रुति तथा स्मृति वाक्य के अप्रामाण्य का प्रसंग हो जायगा और प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध होगा। जैसे स्थाणु में (पेड़ के ठूँठ में) वक्रत्व, कोटरत्व आदि देखनेवाले को स्थाणु में पुनः चोरत्व बुद्धि (चोर का भ्रम) एवं उससे (भीत होकर) पलायन करना (भागना) सम्भव नहीं है, उस प्रकार आत्मा (अर्थात् स्वयं) ब्रह्म ही है ऐसा जो जान गये एवं उस ब्रह्मानन्द को जिन्होंने अनुभव किया है एवं सभी वस्तुओं को ब्रह्म के रूप से ही जो देखते हैं ऐसे ब्रह्मविद् पुरुष के अनात्मदेहादि में तादात्म्यप्राप्ति, कर्तृत्वबुद्धि, कामना एवं कर्म में प्रवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। अतः विद्वान् पुरुषों के द्वारा किये गये कर्मसंन्यास एवं कर्मयोग के विषय में अर्जुन का प्रश्न नहीं हो सकता है। (ग) तृतीयपक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि विद्वान् तथा अविद्वान् दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। अतः एक ही अधिकरण में विद्वत्ता तथा अविद्वत्ता दोनों रह नहीं सकती हैं। अन्त में कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग का कर्ता अविद्वान् ही होगा किन्तु एक ही समय में दोनों के कर्तव्यत्व का प्रसंग उपस्थित होने पर भी वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक साथ कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग का प्रयोग (एक ही अविद्वान् पुरुष के द्वारा) नहीं हो सकता है। इसलिये इन दोनों में से कोई एक श्रेष्ठतर है यह सिद्ध होने पर ही किसी एक को (अर्थात् कर्मसंन्यास नहीं तो कर्मयोग को) अविद्वान् मुमुक्षु करने में समर्थ होता है। अतः इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है? इसे जानने की इच्छा कर अर्जुन ने प्रश्न किया—

हे कृष्ण! सत् एवं आनन्दरूप होने के कारण परमात्मा को ही कृष्ण कहा जाता है [ॐ कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निवृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥ (विष्णुपुराण) भूवाचकः = सत्; निवृत्तिवाचकः = आनन्द]। संन्यासं = पूर्वोक्त वाक्य के द्वारा सर्वकर्मत्याग रूप संन्यास अर्थात् विधि द्वारा उक्त अवश्य कर्त्तव्यकर्म के त्याग को तुम शंससि—कह रहे हो (उपदेश दे रहे हो) पुनः = फिर कर्मयोगं च—'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' 'योगमातिष्ठ' (कर्म करो, योग का अनुष्ठान करो) इत्यादि कहकर कर्मयोगानुष्ठान करने का भी शंससि—उपदेश दे रहे हो। तात्पर्य यह है कि क्रिया, अधिकारी, साधनसम्पत्ति एवं आश्रम की ओर से विवेचन करने पर संन्यास तथा कर्मयोग परस्परविरुद्ध हैं। अतः एक ही पुरुष के द्वारा

एक ही समय में संन्यास तथा कर्मयोग का अनुष्ठान करना असम्भव है, परन्तु तुम मुझे उन्हें कर्तव्यरूप से विधान कर रहे हो। अतः मुझे इस विषय में संशय है कि मेरे लिये कर्मयोग उचित है या कर्मसंन्यास उचित है ? अतः एतयोः यत् श्रेयः स्यात्—इन दोनों में जो श्रेयः है अर्थात् मोक्ष का साधन है वही मेरा कर्तव्य है उसी का अनुष्ठान करना चाहिए, दोनों का नहीं, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि कर्म तथा कर्मसंन्यास दोनों का अनुष्ठान एकसाथ करना सम्भव नहीं है। अतः इनमें से जो प्रशस्यतर (श्रेष्ठतर) है अर्थात् मोक्ष का श्रेष्ठतर साधन होगा तत् एकं सुनिश्चितं ब्रूहि—वह तुम भली-भाँति निश्चय किये हो। उसे (उस एक को) ही तुम मुझे कहो।

नारायणी टीका—श्रीभगवान्‌ने पूर्ववर्ती चार अध्यायों में ४।४१, ४।३७, ४।३३, ४।३२, ४।२३, ४।१९, ४।२१ ४।२२, ४।२४, ३।३०, ३।१७, इत्यादि श्लोकों में कर्मसंन्यास या कर्मत्याग के माहात्म्य के सम्बन्ध में कहा। पुनः २।२४. २।२७, २।४०, ३।४, ३।८, ३।१९, ४।२०, ४।२२ इत्यादि वाक्यों में अर्जुन को कर्म करने का आदेश दिया। कर्मत्याग तथा कर्म करना ये दोनों गति तथा स्थिति की तरह अथवा अन्धकार तथा आलोक की तरह परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक ही व्यक्ति के द्वारा एक साथ दोनों का अनुष्ठान करना असम्भव है। इस कारण अर्जुनने उनके लिए कर्मत्याग श्रेयः है, या कर्म करना श्रेयः है उसे समझने में असमर्थ होने के कारण भगवान् के निकट इन दोनों में कौन मेरे लिए सहजसाध्य एवं श्रेष्ठ है ? उसे निश्चितरूप से निर्णय कर कहने के लिए प्रार्थना किया।

श्रुति में कहा गया है—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् परब्रह्म स्वरूप आत्मा को ही जानकर अतिमृत्यु अर्थात् सर्वदुःखनिवृत्तिरूप अमरत्व को प्राप्त करना सम्भव है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का और कोई पथ नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञान ही मनुष्यजीवन का परम लक्ष्य है। इस ज्ञान लाभ करने का साधन (उपाय) दो हैं (१) कर्मयोग (बहिरंगसाधन) (२) संन्यासयोग (अंतरंग साधन)। (१) कर्मयोग—जबतक त्रिगुणात्मक (मायिक) विषयसमूहों में सत्यत्व बुद्धि रहती है एवं विषय के प्रति काम (वासना) तथा आसक्ति रहती है तबतक कर्म रहेगा ही एवं कर्म से उत्पन्न फलभोग करने के लिए संसारगति भी चलती रहती है। अतः कामको (विषयवासना को) जय करने में असमर्थ होने पर मुक्तिलाभ करने की आशा वृथा है। अनेक जन्मों की सुकृति के फलस्वरूप जब जागतिक

सभी वस्तु ही अनित्य एवं दुःखदायक हैं, यह निश्चित होता है (गीता ९।३३) तब सद्गुरु का आश्रय लेकर जीव जान सकता है कि भोक्ता (कर्ता) भोग्य (कर्म) भोग (करण) सभी काल्पनिक हैं अत एव मिथ्या है; शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है जिसे अधिष्ठान कर यह कल्पनाप्रसूत (मिथ्या) जगत् नाटक सर्वदा प्रवाह के रूप में चल रहा है। किन्तु इस परोक्षज्ञान को प्राप्त करने पर भी पूर्वाभ्यास वशतः कर्म में ही प्रवृत्ति चलती रहती है। कर्म रहने से कर्म में कर्तृत्वाभिमान भी रहेगा। यह कर्तृत्वाभिमान तथा कर्म में प्रवृत्ति विपरीत अभ्यास के द्वारा ही नष्ट हो सकती है। [नित्यसत्यचैतन्यस्वरूप आत्मा को ही शास्त्र में ब्रह्म या भगवान् कहा गया है। जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में एवं बाल्यकाल से वृद्धावस्था तक (अर्थात्)सभी कालों में सभी अवस्था में) आत्मा ही 'अहं' के रूप से ('मैं' इस रूप में) विद्यमान है अर्थात् जो सभी में सभी वस्तु के द्रष्टा या विज्ञाता के रूप से विद्यमान है वह ही चैतन्य स्वरूप आत्मा है। प्रकृति या माया से उत्पन्न देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण प्रभृति जो कुछ करते हैं वह इस आत्मा के भोग एवं अपवर्ग के लिए ही विना जाने हुए करते हैं। इस कारण पातंजल योगशास्त्र में कहा गया है—'तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा' (पा० यो० २।२१) अर्थात् दृश्य अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न वस्तुमात्र का ही अपना कोई प्रयोजन नहीं है—वे परार्थ हैं। पुरुष की अर्थात् आत्मा की प्रयोजनसिद्धि ही (भोग तथा अपवर्गरूपप्रयोजनसिद्धि ही) इनका कार्य है। देहेन्द्रियादि जब देहेन्द्रियादि उपाधि से युक्त आत्मा के लिए कुछ करते हैं तब उसे कर्म कहा जाता है एवं उस कर्म से भोग की उत्पत्ति होती है अर्थात् कर्मफल को भोग करने के लिए संसारगति प्राप्त होती है। और जब उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य के उद्देश्य से कुछ करते हैं तब उसे कर्मयोग कहा जाता है क्योंकि वह कर्म आत्मा के साथ योग सम्पादन कर अपवर्ग (मोक्ष) रूप फल की उत्पत्ति करता है। देहेन्द्रिय प्रभृति जड़ है—आत्मचैतन्य के द्वारा ही चेतनावान् होकर वे कर्म करते हैं। चेतन के बिना कर्ता नहीं हो सकता है। सभी कर्म चेतन की प्रयोजन सिद्धि के लिए ही किया जाता है एवं यह चेतनवस्तु एकमात्र आत्मा ही है, यह जब तक पूर्णरूप से अर्थात् सभी प्रकार के संशयों से रहित होकर निश्चित नहीं किया जाता है तबतक जीवन प्रवाह को दूसरी ओर (आत्मा की ओर) प्रवाहित करना सम्भव नहीं। 'मैं' अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता नहीं हूँ, प्रकृति ही (प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियादि ही) कर्मों का कर्ता है, मेरी (अर्थात् आत्मा अथवा ब्रह्म या भगवान् की) प्रीति के लिए ही प्रकृति कार्य कर

रही है ऐसी बुद्धि के द्वारा देहेन्द्रियादि के द्वारा, अनुष्ठित कर्म आत्मा में समर्पित होकर यदि आत्मा में ही लय प्राप्त हो जाय तब वह कर्म शुभ हो या अशुभ हो, किसी प्रकार का फल (अर्थात् संसारबीज) उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि वह कर्म ब्रह्मस्वरूप आत्मा में समर्पित होकर ब्रह्म ही हो जाता है। अपने स्वरूप को भूलकर अपनी ही अनिर्वचनीय माया के द्वारा (कल्पना के द्वारा) वशीभूत होकर माया या प्रकृति से उत्पन्न दृश्यवस्तु में (देहेन्द्रियादि में) जब आत्मबुद्धि करता है एवं देहेन्द्रियादि के भोग के लिए कर्म करता है तब वह ब्रह्म ही जीव हो जाता है अर्थात् देहेन्द्रियादि—उपाधियों से युक्त आत्मा ही जीव के रूप से संसारनाटक करता है। पुनः जीव जब देहेन्द्रियादि से अपने स्वरूप को पृथक् जानकर ब्रह्म में (शुद्ध चैतन्य में) आत्मबुद्धि करता है तब सभी कर्मों का लय हो जाने के कारण अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है। वस्तुतः ब्रह्म में (शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा में) बन्धन तथा मोक्ष सम्भव नहीं हैं—वे सभी मायिक अर्थात् स्वप्न की तरह काल्पनिक है। जीवात्मा सब देहेन्द्रियादि के भोग के लिए कर्म न कर अपने प्रकृत आत्मस्वरूप की प्रीति के लिए कर्म करता है तब समझता है कि प्रकृति ही कर्ता है, वह स्वयं कर्ता नहीं है। अतः वह कर्तृत्वाभिमान से मुक्त हो जाता है। पुनः विषयों भी प्रकृति अथवा माया (कल्पना) से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे मिथ्या ही है। अतः उन मिथ्या वस्तु के लिए काम (विषय-वासना) भी लुप्त हो जाता है। उस कर्तृत्वाभिमान का त्याग तथा विषयासक्ति का त्याग (फल कामनात्याग) ही कर्मयोग का प्रधान लक्षण है। कर्मयोग में त्याग की प्रधानता रहने के कारण कर्मयोग भी एक प्रकार का संन्यास ही है। इस कर्मयोग के द्वारा ही कर्म की संसाराभिमुखी प्रवृत्ति को प्रत्यावृत्त (लौटा) कर सभी कर्म को आत्मा के अभिमुखी कर आत्मा में ही पर्यवसित (समाप्त) किया जाता है। इसलिए कर्मयोग कर्मसंन्यास का (सर्वकर्मत्याग का) प्रधान साधन है अर्थात् कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि (अर्थात् कर्तृत्वाभिमान का त्याग तथा विषयवासना का त्याग) न होने पर सर्व कर्मसंन्यास कभी भी होना सम्भव नहीं है। यह ही पंचम अध्याय में श्रीभगवान् के द्वारा विशेष भाव से कहा गया है। द्वितीय अध्याय में आत्मा का परिचय दिया गया। तृतीय अध्याय में उस आत्मा तक पहुँचने का प्राथमिक उपाय जो कर्मयोग है उसका वर्णन किया गया। आत्मा के विषय में संशय रहने पर कर्मयोग अनुष्ठान करना सम्भव नहीं है अतः सभी प्रकार के संशयों से रहित होकर कर्मयोग का अनुष्ठान

करना पड़ेगा (गीता ४।४२)। कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर ज्ञान (तत्त्वज्ञान) की उत्पत्ति होती है। सर्वत्र एकमात्र ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही विद्यमान है ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होने पर कर्ता, कर्म, करण सभी ब्रह्मरूप से अनुभूत हाते हैं। इस अवस्था में उन तत्त्वदर्शी का कोई कर्त्तव्य कर्म (कार्य) नहीं रहता है अर्थात् सर्व कर्मसंन्यास (कर्म का त्याग) स्वतः ही हो जाता है अतः कर्मयोग से ज्ञानलाभ एवं ज्ञान से कर्मसंन्यास होता है, उसे प्रतिपादन करने के लिए चतुर्थ अध्याय में ज्ञानकर्म संन्यास योग वर्णित हुआ है। कर्मसंन्यास कैसे होता है ? देहेन्द्रियादि कर्म करने पर भी उस कर्म को अकर्म रूप में परिणत करना कैसे सम्भव है ? तथा वह कर्म आत्मस्थित योगी को लिप्त क्यों नहीं कर सकता (अर्थात् कर्मफल के द्वारा बद्ध नहीं कर सकता) उसका विस्तृतरूप से श्रीभगवान् ने पंचम अध्याय में वर्णन किया है। कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि होने से ही आत्मसाक्षात्कार जनित ज्ञान की उत्पत्ति होगी एवं पूर्णरूप से कर्मसंन्यास होगा ऐसा भगवान् के कहने का अभिप्राय नहीं है। चित्तशुद्धि के पश्चात् योगी को आत्मसंस्थ होना पड़ेगा अर्थात् ध्यान योग के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा में प्रविष्ट कर परमात्मा में स्थित होना पड़ेगा। इसे ही ब्राह्मीस्थिति कहा जाता है। ध्यान योग के अभ्यास के द्वारा किस प्रकार निर्विकल्प समाधि के द्वारा आत्मसाक्षात्कार (जीव तथा परमात्मा का ऐक्य अनुभव) किया जा सकता है उसका छठवें अध्याय में वर्णन किया जायगा। चित्त निर्विकल्प होना और चित्तत्याग एक ही बात है। चित्तत्याग होने पर अहंकार का भी त्याग हो जाता है। इसी अवस्था में आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं रहता है। अतः सर्वकर्मसंन्यास (सभी कर्मों का त्याग) स्वभावतः ही हो जाता है। चित्तत्याग ही प्रकृत त्याग अर्थात् प्रकृत संन्यास है। इस प्रकार पूर्ववर्ती अध्यायों के साथ एवं परवर्ती (षष्ठ) अध्याय के साथ पंचम अध्याय की संगति है ऐसा मानना होगा।

[शास्त्र में कहा गया है 'देशकालवयोऽवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः। धर्मोपदेशो भैषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगैः॥' अर्थात् जो लोग तत्त्वदर्शी होकर धर्म की उस पार पहुँच गये हैं उन्हें भवरोग के औषधरूप धर्म का उपदेश श्रोता का देश, काल, वयः, अवस्था, बुद्धि और शक्ति के अनुसार प्रदान करना चाहिए। इस नियम के अनुसार अर्जुन की योग्यता की विवेचना कर अर्जुन को क्या करना चाहिए उस विषय में निश्चय उत्पन्न करने के लिए भगवान् अपना अभिप्राय प्रकाश कर कह रहे हैं]

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

अन्वयः—श्रीभगवान् उवाच—संन्यासः एवं कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ तु तयोः कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—संन्यास एवं कर्मयोग दोनों ही निःश्रेयसकर अर्थात् मोक्ष के साधन हैं। परन्तु इन दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही विशिष्ट अर्थात् प्रशस्यतर (उत्कृष्टतर) है।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवान उवाच—श्रीभगवान् ने कहा संन्यासः—कर्मपरित्यागः कर्मयोगः च—एवं विहित कर्मों का (निष्काम रूप से) अनुष्ठान उभौ—दोनों ही निश्रेयसकरौ—निःश्रेयस (मोक्ष का) उत्पादक अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होने के कारण दोनों ही कल्याणकर हैं। [संन्यास साधारणतः दो प्रकार का होता है—विद्वत्संन्यास तथा विविदिषा (परमार्थ तत्त्व को जानने के लिए) संन्यास। यहाँ विद्वत् संन्यास के सम्बन्ध में नहीं कहा गया है क्योंकि जो विद्वान् (तत्त्वज्ञानी या ब्रह्मनिष्ठ) है उनके लिए कर्मयोगानुष्ठान असम्भव है, यह ही इस अध्याय की उपक्रमिका में पहले ही कहा गया है। अतः जिसने अनात्मज्ञ किन्तु जिज्ञासु होकर विविदिषा संन्यास ग्रहण किया है उसके कर्म परित्याग को अर्थात् वेदान्त वाक्यादि के श्रवण आदि के लिए मुमुक्षु जब गृहस्थाश्रमोचित समस्त कर्म का परित्याग कर देता है तब उस प्रकार के कर्म परित्याग को यहाँ 'संन्यास' शब्द से अभिहित किया गया है। इस प्रकार कर्मसंन्यास श्रवणादि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष का हेतु होता है। और जिनकी चित्तशुद्धि न होकर विविदिषा की उत्पत्ति नहीं हुई है उनकी चित्तशुद्धि के लिए कर्मयोग का अनुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है। इस प्रकार साधक कर्मयोग के द्वारा पहले चित्तशुद्धि लाभ कर तत् पश्चात् श्रवणादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष लाभ करते हैं, यही भेद है। परन्तु दोनों ही (अर्थात् कर्मसंन्यास तथा कर्मानुष्ठान अधिकारियों में भेद के अनुसार) ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होने के कारण मोक्ष का उत्पादक होते हैं। इसलिए कहा गया है कि 'निःश्रेयसकरौ उभौ'।] तु—परन्तु

तयोः-यद्यपि दोनों ही मोक्ष का हेतु है तब भी उनमें केवल कर्म संन्यास से (ज्ञानरहित कर्मत्याग से) अर्थात् जो चित्तशुद्धि प्राप्त कर

तत्त्वज्ञान का अधिकारी नहीं हुआ है ऐसे अनधिकारी व्यक्ति के द्वारा जो कर्मसंन्यास होता है उसकी अपेक्षा कर्मयोगः—[श्रद्धापूर्वक फलकामना त्याग कर विहित कर्म का अनुष्ठान ही] विशिष्यते—विशिष्ट अर्थात् अधिक प्रशस्त माना जाता है [क्योंकि कर्मयोग के फलस्वरूप कर्मयोगी चित्तशुद्धि प्राप्त कर प्रकृत संन्यास का अधिकारी हो जाता है (मधुसूदन) ऐसा कहकर भगवान् कर्मयोग की स्तुति (प्रशंसा) कर रहे हैं]।

टिप्पणी। (१) **श्रीधर—संन्यासः कर्मयोगः च उभौ निःश्रेयसकरौ—**वेदान्तवेद्य (वेदान्तवाक्यादि द्वारा जानने योग्य) आत्मतत्त्व को जो लोग जानते हैं वैसे ज्ञानी पुरुषों को कर्मयोगानुष्ठान करना पड़ेगा, ऐसा मैंने नहीं कहा। अतः पूर्वोक्त (ज्ञानपूर्वक) संन्यास के साथ मैं जो कर्मयोग के अनुष्ठान के बारे में कह रहा हूँ उसका कोई विरोध नहीं हो सकता है। किन्तु तुम देहात्माभिमानी हो, बन्धुओं के बध के निमित्त शोकमोह आदि से तुम्हारा जो संशय उत्पन्न हुआ है उस संशय को देहात्मविवेकरूप ज्ञानासि (ज्ञानरूप तलवार) के द्वारा (अर्थात् जड़ देहेन्द्रियादि से चेतन आत्मा पृथक् है इस प्रकार के ज्ञान द्वारा) छेदन करके परमात्मज्ञान के उपायभूत कर्मयोग को (अर्थात् जिस कर्मयोग के बिना चित्तशुद्धि तथा परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान लाभ करना असम्भव है उस कर्मयोग को) आश्रय करने के लिए तुम्हें कह रहा हूँ। कर्मयोग के द्वारा शुद्धचित्त होकर जिनका तत्त्वज्ञान (परमतत्त्व के सम्बन्ध में परोक्षज्ञान) उत्पन्न हुआ है, उस ज्ञान के परिपाक के लिए ज्ञाननिष्ठा का (आत्मसाक्षात्कार से उत्पन्न अपरोक्षज्ञान एवं उस ज्ञान में स्थिति का) प्रयोजन होता है। इस ज्ञाननिष्ठा के अंग के रूप में संन्यास अर्थात् सर्वकर्मत्याग करना पड़ता है, यही पहले तुम्हें मैंने कहा। [मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मयोग गौण है एवं संन्यास प्रधान साधन है। अतः] अंग तथा प्रधान में विकल्प नहीं हो सकता है। कर्म तथा संन्यास ये दोनों ही भूमिकाभेद से (योगी का आरुरुक्षु तथा आरुढ़ अवस्था के भेद के अनुसार समुच्चित होकर ही कल्याण को सिद्ध करते हैं अर्थात् मोक्ष का साधक होते हैं। यहाँ "समुच्चित होकर ही" इन शब्दों का उल्लेख करने का उद्देश्य यह नहीं है कि एक ही अधिकारी के द्वारा एक ही समय में दोनों का अनुष्ठान करना होगा। किन्तु साधकों की अवस्था के भेद के अनुसार उनका क्रम से अनुष्ठान करना होगा। यदि तत्त्वज्ञान प्राप्त हो तब ज्ञाननिष्ठा के लिए संन्यास ही प्रशस्त है और यदि तत्त्वज्ञान न हो तब पहले निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त करना पड़ेगा। चित्तशुद्धि के द्वारा तत्त्वज्ञान

प्राप्त कर ज्ञाननिष्ठा के लिए बाद में संन्यास (सर्वकर्मत्याग) करना पड़ेगा। यही क्रम है। तयोः तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगः विशिष्यते—इसलिए कहा गया है कि उन दोनों में ज्ञानशून्यसंन्यास (अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के पहले ही कर्मसंन्यास) की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट (श्रेष्ठ) है।

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग इन दोनों का अनुष्ठान एक ही पुरुष के द्वारा एक ही समय में सम्भव नहीं है, यह सिद्ध होने के कारण इन दोनों में से एक का श्रेष्ठत्व निर्णय करने के लिए 'देशकालवयोऽवस्थाबुद्धिशक्त्यनुरूपतः धर्मोपदेशो भैषज्यं वक्तव्यं धर्मपारगैः ॥' अर्थात् देश, काल, एवं श्रोता का वय, अवस्था, बुद्धि और शक्ति के अनुसार भवरोग के औषधरूप धर्मोपदेश धर्मपारग (धर्मतत्त्वज्ञ) पुरुषों को देना चाहिए—इस न्याय से अर्जुन जैसा अधिकारी है वैसा विचार कर श्रीभगवान् ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर दिया—संन्यासः='ब्रह्मणि नितरामासः संन्यासः' अर्थात् ब्रह्म में सम्यक्प्रकार से (सम्पूर्णरूप से) चित्त का आसन स्थिति को (सम् + नि + आस) संन्यास कहा जाता है अर्थात् बाह्य विषयों के प्रति आसक्तिरहित होकर चित्त की ब्रह्म रूप से स्थिति हो जाना रूप जो निर्विकल्पसमाधि है वही संन्यास है। पुनः प्रत्यग्दृष्टि के द्वारा अनात्मप्रत्यय का (विषयवृत्ति का) निरास अर्थात् निरोध कर जो सविकल्प समाधि होता है वह भी संन्यास है। ये दो प्रकार के संन्यास ही प्रधान हैं। ये दोनों श्रवण तथा मनन के द्वारा सिद्ध होते हैं किन्तु श्रवण तथा मनन के प्रतिकूल है कर्मानुष्ठान। श्रवण तथा मनन के लिए सर्वकर्मों का परित्याग करना आवश्यक होता है। अतः सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के अंगभूत श्रवण तथा मनन के प्रतिकूल जो कर्म होते हैं उनके परित्याग को तीसरे प्रकार का संन्यास कहा जाता है। इसलिये संन्यास शब्द का अर्थ तीन प्रकार का है। इस श्लोक में प्रधानभूत अर्थात् मुख्य जो दो संन्यास है उसके बारे में नहीं कहा जा रहा है किन्तु उनके अंगभूत जो सर्वकर्मसंन्यास है उसके बारे में ही यहाँ कहा जा रहा है क्योंकि वह (कर्मसंन्यास) श्रवणादि के द्वारा ज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष का हेतु होता है। अतः अविद्वान् के द्वारा ही कर्मसंन्यास होता है (अविद्वान् ही इसके कर्ता है)। वह अनुष्ठित होने पर चित्तशुद्धि होती है एवं उस चित्तशुद्धि से ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष की प्राप्ति होने के कारण वह कर्मसंन्यास मोक्ष का हेतु होता है। पुनः कर्मयोगः च—कर्मयोग भी अर्थात् अविद्वान् के द्वारा करणीय जो कर्मानुष्ठान है वह भी चित्तशुद्धि उत्पन्न कर ज्ञान के द्वारा मोक्ष का हेतु होता है। अतः उभौ निःश्रेयसकरौ—

दोनों ही मोक्ष का साधन है। तयोः तु—तब भी अविद्वान् के कर्तव्यरूप से कर्मयोग एवं कर्मसंन्यास एक ही समय में प्राप्त होने पर दोनों के गुण तथा दोष का विचार करने पर कर्मसंन्यासात्-सदसद्विवेक से उत्पन्न तीव्र वैराग्य, तीव्र मोक्षेच्छा, यम, नियम, शमदम आदि तत्त्वज्ञान के अंतरंग साधन के पुष्कलताशून्य होकर (पूर्णता प्राप्त न होकर अर्थात् वे समस्त अंतरंग साधनों के अभ्यास से दृढ़ता सम्पादन करने के पहले ही) केवल प्रेषमंत्र उच्चारणरूप संन्यास की अपेक्षा कर्मयोगः—श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित होता है जो कर्मयोग वह विशिष्यते—श्रेष्ठ है अर्थात् अपने अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाले गुणों के द्वारा विशेषता (श्रेष्ठत्व) प्राप्त होता है। श्रौत स्मार्त कर्म ही श्रद्धा के साथ परमेश्वर की प्रीति के लिए सम्यक्रूप से अनुष्ठान करने से अविद्वान् तीन प्रकार के ऋणों से (देव, पितृ तथा ऋषि ऋण से) मुक्त हो जाता है एवं इसके फलस्वरूप इन्द्रादि देवताओं का प्रसाद प्राप्त होता है। ईश्वर का प्रसाद (प्रसन्नता) होने से इन्द्रियों की भी प्रसन्नता होती है एवं उसके द्वारा चित्तशुद्धि आदि ज्ञान की साधन-सम्पत्ति सिद्ध होती है। इसलिए उक्त लक्षणों से विशिष्ट संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्टतर (श्रेष्ठतर) है। अतः साधनशून्य अविद्वान् को सहसा संन्यास ग्रहण करना (अर्थात् सभी कर्मों का त्याग करना) उचित नहीं है—उनको ईश्वरार्पण-बुद्धि से कर्मों का अनुष्ठान सम्यक्प्रकार से करना चाहिए, यह सिद्ध हुआ है।

[शास्त्र में भी इस कारण से कहा गया है—'काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशीः ज्ञानवर्जितः। तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः। भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा॥' अर्थात् शम दम आदि साधन नहीं है, तितिक्षा नहीं है, ज्ञान वैराग्य नहीं है किन्तु केवल काष्ठदंड धारण कर संन्यास ग्रहण किये हैं और सभी प्रकार की कामना वासना युक्त रहने के कारण इन्द्रिय के भोग में ही लिप्त है, इस प्रकार का व्यक्ति यदि भिक्षा के द्वारा जीवन यापन करे तो उसे पापी तथा संन्यास धर्म का नाशकारी जानोगे]।

प्रश्न—श्रुति में कहा गया है 'न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः' (इस तपस्या में संन्यास को ही श्रेष्ठ कहा गया है), इस प्रकार श्रुति वाक्य के द्वारा संन्यास की ही उत्कृष्टता प्रतिपन्न हुआ है। अतः भगवान् के द्वारा संन्यास का तिरस्कार कर कर्मयोग की उत्कृष्टता वर्णन करना युक्त नहीं है ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। सभी लोगों के प्रति

अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् की गीता शास्त्र में उपदेश प्रदान करने की प्रवृत्ति है। अतः पहले 'न जायते म्रियते वा' (गीता २।२०) इत्यादि वाक्यों के द्वारा अमूढ़ व्यक्तियों के प्रति आत्मतत्त्व, आत्मतत्त्व प्राप्ति करने का साधन, एवं सर्वकर्म संन्यास का उपदेश देकर अब अपनी विद्या, प्रज्ञा प्रकृति एवं उस पार में जाने की शक्ति (मोक्षलाभ करने में सामर्थ्य) को नहीं जानकर अज्ञानपूर्वक किसी कारणवश सहसा संन्यास ग्रहण कर मूढ़ जन पतित हो जायँगे, इसलिए उन मूढव्यक्ति का उद्धार करने के उद्देश्य से यहाँ कर्मयोग प्रकृत होने पर भी (अर्थात् कर्मयोग की प्रधानता यहाँ प्रतिपादन करने का विषय न होने पर भी) कर्मयोग को प्रकृत कर (विषय कर) उन अज्ञानी व्यक्तियों की कर्म में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए 'कर्मयोगो विशिष्यते' कहकर कर्मयोग की प्रशंसा कर रहे हैं। भगवान् इसके द्वारा संन्यास का निराकरण नहीं कर रहे हैं क्योंकि संन्यास भगवान् का अपना स्वरूप है एवं सर्वोत्तम है। 'न्यास इति ब्रह्मा, ब्रह्मा हि परः' (संन्यास ब्रह्मा है और ब्रह्मा ही पर अर्थात् परमात्मा है), 'न्यास एवात्यरेचयेत्' (न्यास अर्थात् संन्यास ही सभी को अतिक्रम कर सर्वश्रेष्ठ है), इन श्रुति वाक्यों के द्वारा संन्यास का ब्रह्मत्व तथा सर्वश्रेष्ठत्व सिद्ध हुआ है। अतः कर्मयोग को स्तुति के लिए ही भगवान् का यह वचन है इस प्रकार निश्चय करना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका**—अपक्कषाय (चित्तशुद्धिहीन) अनात्मज्ञ व्यक्ति के लिए सहसा संन्यास ग्रहण न कर शास्त्रविहित कर्त्तव्यकर्मों को फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से भली-भाँति करना चाहिए क्योंकि निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त न होने तक कोई भी संन्यास का अधिकारी नहीं हो सकता है। इस कारण अनात्मज्ञ विषयासक्त पुरुष को लक्ष्य कर ही भगवान् ने कहा है कि यद्यपि कर्मयोग तथा संन्यास दोनों ही अधिकारी के भेद के अनुसार निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के हेतु होते हैं तब भी चित्तशुद्धि न होने तक कर्मसंन्यास (कर्मत्याग) की अपेक्षा कर्मयोग विशिष्ट (श्रेष्ठ) है। ऐसा कहकर भगवान् संन्यास की उपेक्षा कर रहा है ऐसा मानना समीचीन नहीं होगा क्योंकि प्रकृत संन्यास धर्म (ज्ञानसहित कर्म-संन्यास) सभी आश्रम धर्मों में श्रेष्ठ हैं। श्रुति में भी कहा है 'न्यास एव अत्यरेचयेत्' [अर्थात् संन्यास सभी आश्रमों को अतिक्रम करके अवस्थान करता है] अतः संन्यास का श्रेष्ठतमत्व श्रुति में भी प्रतिपादित हुआ है। यहाँ भगवान् ने अनात्मज्ञ व्यक्तिको कर्म में प्रवृत्त करने के लिए कर्मयोग की स्तुति या प्रशंसा किया है क्योंकि ऐसे व्यक्ति के लिए कर्मयोग सहजसाध्य,

सुखकर, ज्ञानोत्पत्ति का सहायक एवं प्रमादनिवारक है। कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर आत्मा में रति उत्पन्न होने पर कर्म का मूल जो विषयवासना तथा संकल्प है वे निवृत्त हो जाते हैं एवं इस प्रकार (काम तथा संकल्प-वर्जित) साधक को कर्म स्वयं ही त्याग करके भाग जाता है अर्थात् उनके निकट संन्यास स्वतः ही उपस्थित होता है (गीता ४।१९)

[पूर्ववर्ती श्लोक में कर्मयोग की प्रशंसा की गई है। क्यों प्रशंसा किया गया है वह अब कह रहे हैं]

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

अन्वयः—हे महाबाहो ! यः न द्वेष्टि न कांक्षति सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः । हि निर्द्वन्द्वः सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ।

अनुवाद—हे शक्तिशाली अर्जुन ! जो अकुशल (दुःखकर) कर्म में अप्रीति (द्वेष) नहीं करते हैं पुनः कर्म की कोई फलाकांक्षा भी नहीं करते हैं एवं जो सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित हैं उन्हें नित्यसंन्यासी जान लो। ऐसे व्यक्ति अनायास ही संसारबन्धन से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो !—हे शक्तिशाली अर्जुन ! यः न द्वेष्टि—कर्मयोगी दुःख एवं दुःख के हेतु के प्रति द्वेष प्रकाश नहीं करता है अर्थात् विहितकर्मानुष्ठान करने के समय यदि अप्रीतिकर या दुःखकर कुछ हो उसके लिए वे कर्म के प्रति द्वेष नहीं करते हैं [अथवा भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठित कर्म की निष्फलता (कर्म का जब कोई फल नहीं होता है तब वह कर्म क्यों करे ऐसी) आशंका कर जो कर्म के प्रति द्वेष नहीं करता है (मधुसूदन)] अथवा कोई व्यक्ति यदि इष्टलाभ के प्रतिकूल हो तब उसके प्रति भी द्वेष (अप्रीति) प्रकाश नहीं करता है।

न कांक्षति—जो कर्मानुष्ठान कर सुख एवं सुख के साधन के लिए आकांक्षा (कामना) नहीं करता है अर्थात् कर्म के फलस्वरूप स्वर्गादिसुख को कामना कर उनके साधनरूप विशिष्ट विशिष्ट यागादि कर्म करने के लिए व्याकुल नहीं होता है किन्तु केवल आश्रमविहित नित्यनैमित्तिक कर्म एवं यथाप्राप्त कर्मों की निष्कामरूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से सम्पादन करता है—

सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः—इस प्रकार कर्मयोगी कर्म में प्रवृत्त होने पर भी फलाकांक्षा त्याग कर केवल ईश्वर प्रीति के लिए ही विहित कर्मानुष्ठान

करता है, अतः फलाकांक्षा त्याग करने के कारण वह नित्य संन्यासी [नित्य (सर्वदा ही अर्थात् सर्व अवस्था में ही संन्यासी)] है, ऐसा जान (मान) लो (क्योंकि बुद्धिमान् व्यक्तियों के द्वारा वह संन्यासी रूप से ही माना जाता है)। संन्यासी जिस प्रकार रागद्वेष से रहित होकर तथा फलाकांक्षा वर्जित होकर एवं इन्द्रियों के संयम आदि द्वारा युक्त होकर प्राण धारण करने के लिए अथवा लोकसंग्रह करने के लिए कर्म करने पर भी वह कर्मफल के द्वारा लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मयोगी का भी फलाकांक्षा न रहने के कारण उसके द्वारा किया हुआ कर्म उसको कर्मफल से बद्ध नहीं कर सकता है वरन् ऐसा कर्मयोग उनके सभी संचित पापों को नष्ट कर चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानोत्पत्ति का सहायक होता है। इसलिए निष्काम कर्मयोगी नित्यसंन्यासी है। हि—चूँकि निर्द्वन्द्वः—वह द्वन्द्व-शून्य अर्थात् रागद्वेष, सुख-दुःख, स्नेह-मोह, शीतोष्ण इत्यादि द्वन्द्वविहीन होने के कारण सुखं-सुखपूर्वक अर्थात् अनायास बन्धात्-कर्म से उत्पन्न जन्म मरण आदि रूप संसारबन्धन से [अथवा अन्तःकरण की जो अशुद्धि ज्ञान का प्रतिबन्धक होकर बन्धन का कारण होती है उससे (मधुसूदन)] प्रमुच्यते—प्रकृष्ट रूप से मुक्त हो जाता है। [तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का प्रतिबन्ध (बाधा) है राग, द्वेष एवं द्वन्द्वमोह। इनके द्वारा ही चित्त अशुद्ध रहता है।] कर्मयोग के द्वारा राग, द्वेष एवं द्वन्द्वमोह से मुक्त होकर अर्थात् शुद्धचित्त होकर [एवं साथ ही नित्य तथा अनित्य वस्तु के विवेकादि (पार्थक्य ज्ञानादि) के प्रकर्ष के द्वारा (मधुसूदन)] तत्त्वज्ञान प्राप्त कर अनायास ही कर्मयोगी सभी प्रकार के संसारबन्धन से मुक्तिलाभ करने में समर्थ होता है, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्म जब बन्धन का कारण है तब कर्मयोग श्रेष्ठ कैसे हो सकता है? इस शंका के उत्तर में कर्मयोगी का संन्यासित्व बताकर कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए उसका श्रेष्ठत्व प्रतिपादन कर रहे हैं—] हे महाबाहो! यः न द्वेष्टि न कांक्षति—रागद्वेषरहित होकर परमेश्वर के लिए जो कर्मों का अनुष्ठान करता है सः नित्य संन्यासी ज्ञेयः—वह नित्य (सर्वदा ही अर्थात् कर्मानुष्ठान के समय में भी) संन्यासी हैं ऐसा जानने योग्य है। क्यों कर्मयोगी को भी संन्यासी मानना पड़ेगा उसका कारण कह रहे हैं—निर्द्वन्द्वः हि—रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित (शुद्धचित्त) व्यक्ति ही ज्ञान द्वारा सुखं बन्धात् प्रमुच्यते—सुखपूर्वक अर्थात् अनायास ही संसाररूप बन्धन से अच्छी तरह से मुक्त हो जाता है।

(२) शंकरानन्द—उक्त कारणों से कर्मयोग की स्तुति कर रहे हैं—

यः न द्वेष्टि—जो अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता है अर्थात् उसमें अप्रीति नहीं करता है किन्तु कुशल तथा अकुशल दोनों ही कर्म हैं, ऐसी बुद्धि से उनका अनुष्ठान करता है अथवा जो द्वेष नहीं करता है किसी प्राणी के प्रति ही द्वेष (अप्रीति) नहीं करता है **न कांक्षति**—एवं किसी भी कर्मजनित फल की आकांक्षा (कामना) नहीं करता है अथवा—जिस अनर्थ की प्राप्ति हुई है उसकी निवृत्ति एवं अप्राप्त अर्थ की प्राप्ति के लिए आकांक्षा नहीं करता है। **निर्द्वन्द्वः**—शीतोष्ण, सुखदुःख, लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्व में जिसकी समबुद्धि रहने के कारण उससे (द्वन्द्व से) निर्गत (मुक्त) हुआ है। **सः नित्यसंन्यासी ज्ञेयः**—ऐसे लक्षणों से विशिष्ट जो पुरुष है वही नित्यसंन्यासी है अर्थात् नित्य ही (सर्वदा) उसका संन्यास है, यह बात पंडितों को ज्ञेय अर्थात् ज्ञातव्य है (अर्थात् जानना चाहिए)। **हि**—जिस कारण से वह रागद्वेषादि से रहित, परिपक्कचित्त एवं समबुद्ध्यादि गुणों से युक्त है अतः वह गृहस्थ होकर भी कर्मनिष्ठ होने पर **सुखं**—परिग्रहत्यागजनित दुःख से, शीतवातादि उपद्रव जनित दुःख से एवं भिक्षाटन आदि रूप दुःख से रहित होकर अनायास ही **बन्धात्**—संसार से **प्रमुच्यते**—बराबर के लिए मुक्त हो जाता है अर्थात् पहले जैसा कहा गया है उस प्रकार कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि एवं बाद में ज्ञान लाभ कर कालान्तर में (शरीरपात के बाद) विदेहमुक्ति प्राप्त करता है। इसके द्वारा सूचित होता है कि कर्म तथा उपासना के द्वारा जिसका चित्त परिपक्व हुआ है उसका ही संन्यास में अधिकार है—अपक्व (अशुद्ध) चित्त यति का नहीं।

(३) **नारायणी टीका**—संसारी लोगों के लिए कर्ममात्रही बन्धन का कारण है क्योंकि कर्म करने से ही कोई न कोई कामना रह जाती है अर्थात् कर्म करने का उद्देश्य है कोई न कोई प्रयोजनसिद्धि। अतः कर्मफल की आकांक्षा ही उन्हें कर्म में प्रवृत्त कराती है। जहाँ आकांक्षा रहती है वहाँ किसी प्रकार की बाधा प्राप्त होने पर ही बाधा देनेवाले के प्रति द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार कर्म में कर्तृत्वाभिमान रहने से (अर्थात् मैं कर्म का कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है, ऐसी बुद्धि के साथ) कर्म करने पर फलाकांक्षा एवं प्रतिकूल व्यक्ति के अथवा वस्तु के प्रति द्वेष रहेगा ही। राग तथा द्वेष आत्मविषयक अज्ञान से उत्पन्न होते हैं अर्थात् एक अखंडाद्वय ज्ञान सत्ता ही (जिसे ब्रह्म, भगवान् या आत्मा आदि कहकर वेद पुराण आदि शास्त्रों में अभिहित किया गया है वही) है एवं दूसरा सब कुछ मायिक (मिथ्या) है इस ज्ञान के अभाव से ही रागद्वेष की उत्पत्ति होती है। अतः जबतक राग

(आकांक्षा) तथा द्वेष रहता है तब तक संसाररूप बन्धन से मुक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। किन्तु जब कोई मुमुक्षु निष्काम कर्मयोग को अवलम्बन कर देहेन्द्रियादि को परमात्मा का यंत्र मानकर शुभ एवं अशुभ सभी कर्मों को परमात्मा में समर्पण करते हैं (गीता ९।२७–२८), अथवा कर्ता, कर्म, करण में एकमात्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं (गीता ४।२४), अथवा प्रकृति ही प्रकृति का कार्य कर रही है (गीता ३।२७–२८) ऐसा निश्चय कर कर्म के प्रति राग (आसक्ति) त्याग कर देहेन्द्रियादि के कार्य के द्रष्टा के रूप से अवस्थान करते हैं तब वे निर्द्वन्द्व (राग द्वेष रहित) होकर सुखपूर्वक (अनायास) ही कर्मबन्धन अर्थात् संसारगति से पूर्णरूप से मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार जिनका कर्म होता है वे बाहर के लोगों की दृष्टि में कर्म करते रहने पर भी वे नित्यसंन्यासी हैं अर्थात् सतत उनके देहादि के द्वारा कर्म होते रहने पर भी उनके उन कर्मों में कर्तृत्वाभिमान त्याग, कर्म में आसक्ति त्याग एवं कर्मफल में आकांक्षा त्याग किये जाने के कारण वे कर्मयोगी होकर भी नित्यसंन्यासी (नित्यत्यागी) हैं। जो लोग संन्यास आश्रम ग्रहण कर श्रवण मनन आदि का अभ्यास करते हैं वे श्रवण आदि काल में संन्यासी होकर भी यदि मठ के अधिकारी हो एवं धन, मान, प्रतिष्ठा आदि में आसक्त हों तब निरन्तर ब्राह्मीस्थिति नहीं रहने के कारण उन लोगों में स्व-परभेद बुद्धि (अपने से दूसरे के प्रति भेदबुद्धि अर्थात् रागद्वेष) रहेगा ही। अतः वे नित्यसंन्यासी नहीं हो सकते हैं। ऐसे संन्यासी की अपेक्षा उस प्रकार के कर्मयोगी श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे नित्यसंन्यासी हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि कर्मयोगी कर्म करते रहने पर भी नित्यसंन्यासी हैं एवं अनायास ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। प्रश्न है संन्यास तथा कर्मयोग यह दोनों एक काल में एक ही पुरुष के द्वारा अनुष्ठित नहीं हो सकता है क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध है। अतः इनका फल भी परस्पर विरुद्ध होना चाहिए अर्थात् इन दोनों से एक ही मोक्षरूप फल प्राप्त होगा यह कभी भी सम्भव नहीं है। इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं]।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—बालाः सांख्ययोगौ पृथक् प्रवदन्ति न पंडिताः। एकम् अपि सम्यक् आस्थितः उभयोः फलं विन्दते।

अनुवाद—अज्ञ व्यक्ति ही सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा कर्मयोग को पृथक् मानते हैं, परन्तु पंडित लोग वैसा नहीं कहते। (इन दोनों में) किसी एक का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने पर दोनों का फललाभ करना सम्भव है।

भाष्यदीपिका—बालाः—जो बालकसदृश हैं अर्थात् जो लोग शास्त्र के अर्थ (तात्पर्य) के विषय में विवेक ज्ञानशून्य हैं वे लोग सांख्ययोगौ सांख्य (कर्मसंन्यास) तथा योग को (कर्मयोग को) [सांख्यं—सर्ववेदान्तैः सम्यक् तत्परत्वेन ख्यायते प्रतिपाद्यते इति सांख्यं परं ब्रह्म, तत्प्राप्तेः परं कारणत्वात् सांख्यं ज्ञाननिष्ठांगभूतः संन्यासः' (शंकरानन्द) अर्थात् वेदान्त जिसका तात्पर्य सम्यक् प्रकार से व्याख्या करता है (प्रतिपादन करता है) उस परब्रह्म परमात्मा को सांख्य कहा जाता है; उस परब्रह्म को प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है ज्ञाननिष्ठा का अंगभूत संन्यास। अतः संन्यास को भी (सर्व-कर्मत्याग को भी) सांख्य कहा जाता है; (श्रीधर स्वामी का भी यह ही मत है)। अथवा संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरंगसाधनतया सांख्यः संन्यासः' (मधुसूदन) अर्थात् संख्या शब्द का अर्थ है सम्यक् आत्मबुद्धि, जो संख्या को (आत्मबुद्धि को) ज्ञान के अंतरंग साधन के रूप में वहन करता है (लाता है) उसे कहा जाता है सांख्य, अतः सांख्य शब्द का अर्थ है संन्यास क्योंकि संन्यास ही ज्ञान का अन्तरंग साधन है। योगशब्द का अर्थ भगवदर्पण बुद्धि के द्वारा निष्काम रूप से वर्णाश्रमधर्मोचित कर्म का अनुष्ठान]। बालबुद्धि तत्त्वज्ञानशून्य व्यक्ति कर्मसंन्यास तथा कर्मयोग से पृथक् है—भिन्न (विरुद्ध) फलदायक हैं अर्थात् जब कर्मसंन्यास एवं कर्म-योग का आश्रम, साधन तथा अधिकारी पृथक् (भिन्न) है तब उनका फल भी विरुद्ध (भिन्न) होगा, ऐसा प्रवदन्ति—प्रकृष्ट रूप से (विशेषरूप से) कहते हैं। 'कर्मणा पितृलोकः स्वर्गं वा एते लोकं यान्ति' अर्थात् कर्म के द्वारा पितृलोक की प्राप्ति होती है अथवा ये सभी स्वर्गलोग में जाते हैं, इस प्रकार श्रुति तथा स्मृति शास्त्र में कर्म की गति का निर्देश किया गया है। पुनः 'संन्यास-योगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः,' 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' अर्थात् संन्यासरूप योग द्वारा शुद्धान्तःकरण यति (मोक्षप्राप्त करते हैं); संन्यास के द्वारा ही परमनैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होना सम्भव है इत्यादि वाक्यों के द्वारा संन्यास का साधन तथा फल कर्मयोग से भिन्न है, ऐसा प्रतिपादित हुआ है। इस प्रकार जो लोग शास्त्रार्थ करते हैं परन्तु शास्त्रवाक्यों का यथार्थ समन्वय करने में अक्षम हैं वे लोग सांख्य (संन्यास) तथा कर्मयोग को

पृथक् (विरुद्ध) मानते हैं। न पंडिताः—किन्तु जो लोग पंडित अर्थात् ज्ञानी हैं [अथवा ज्ञानी एवं योगी लोग (आनन्दगिरि)] वे ऐसा नहीं कहते हैं। ज्ञानी तथा पंडितलोग तो सांख्य तथा योग को अविरुद्ध ही मानते हैं एवं दोनों के फल को एक ही जैसा मानते हैं। क्यों वे लोग ऐसा कहते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—एकम् अपि—संन्यास एवं कर्मयोग इनमें किसी एक का भी सम्यगास्थितः—(अपने अधिकार के अनुसार तथा शास्त्रोक्त विधि के अनुसार) सम्यक्रूप से यदि अनुष्ठान करें तब उभयोः फलं विन्दते—दोनों का ही फल जो मोक्ष है उसे प्राप्त करते हैं। संन्यास से ज्ञानोत्पत्ति होकर जिस प्रकार निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति होती है उस प्रकार कर्मयोग भी सम्यक्रूप से (यथावत्) अनुष्ठित होने पर वह पहले चित्तशुद्धि उत्पन्न कर सांख्य में (संन्यास में) अधिकारी कर देता है एवं अन्त में ज्ञानोत्पत्ति कर मोक्ष प्रदान करता है। इस प्रकार संन्यास तथा कर्मयोग इनमें से किसी एक का (अधिकारी—भेद के अनुसार) अवलम्बन करने से अन्त में एक ही मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। अतः फल में कोई विरोध नहीं है। सांख्य साध्य है, कर्मयोग साधन है। सांख्य मोक्ष का अंतरंग साधन है, कर्मयोग बहिरंग साधन है, इसलिए सांख्य से अल्प समय में एवं कर्मयोग से विलम्ब में मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः सांख्य तथा योग में तर-तम भाव रहने पर भी अर्थात् योग से सांख्य (ज्ञानपूर्वक संन्यास) गज तथा अश्व की तरह स्वरूपतः एक दूसरे से श्रेष्ठ होने पर भी गन्तव्य स्थान में पहुँचने के लिए जिसप्रकार गज या अश्व (हाथी या घोड़ा) इन दोनों में से किसी एक का ग्रहण किया जाता है उस प्रकार सांख्य तथा योग के अन्तिम फल में कोई विरोध नहीं रहने के कारण दोनों को एक ही माना गया है। अतः अनधिकारी मुमुक्षु को संन्यास ग्रहण न कर कर्मयोग में ही प्रवृत्त रहना चाहिए, यह ही कहने का अभिप्राय है।

अर्जुन ने केवल संन्यास तथा कर्मयोग के सम्बन्ध में प्रश्न किया था किन्तु भगवान् ने 'सांख्य' तथा 'योग' ऐसे शब्दान्तर का व्यवहार कर दोनों के ही फल को एक से प्रतिपादन किये। संशय हो सकता है कि जो अप्रकृत विषय है (अर्थात् जिस विषय में अर्जुन ने प्रस्ताव नहीं किया) उसे क्यों कहा गया ? उत्तर—यद्यपि अर्जुन ने केवल संन्यास तथा कर्मयोग के विशेषत्व जानने के अभिप्राय से प्रश्न किया था तब भी श्रीभगवान् ने वह अभिप्राय परित्याग न कर अपना विशेष अभिप्राय संयुक्त कर शब्दान्तर के द्वारा

अर्थात् सांख्य तथा योग ये दो शब्द प्रयोग कर उसका उत्तर दिया। सांख्य तथा योग शब्द के द्वारा भगवान् यह ही स्पष्ट करना चाहते हैं कि संन्यास जब ज्ञान के द्वारा युक्त होता है तब वह 'सांख्य' शब्द वाच्य होता है एवं वही मोक्ष का अंतरंग साधन है; पुनः निष्काम कर्म जब ज्ञान के उपायभूत समबुद्धि इत्यादि (अर्थात् भगवान सर्वत्र विराजमान हैं एवं वे ही सब कुछ है, इस प्रकार समबुद्धि एवं शम, दम, प्रभृति) द्वारा संयुक्त होता हैं तब वह कर्म 'योग' शब्द वाच्य होता है। इस प्रकार योग के द्वारा क्रम से चित्तशुद्धि तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। अतः इस स्थान में प्रकरणविरुद्ध (अप्रासंगिक) कुछ भी नहीं कहा गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[चुँकि कर्मयोग अंग है एवं संन्यास प्रधान है। इस प्रकार दोनों के अवस्थागत भेद रहने के कारण क्रम समुच्चय है अर्थात् कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर विविदिषा उत्पन्न होने पर कर्मसंन्यास में अधिकारी होना सम्भव है। अतः विकल्प को अंगीकार कर अर्थात् कर्मयोग तथा कर्मसंन्यास सम्पूर्ण पृथक् (विरुद्ध) है ऐसा मानकर दोनों में कौन सा श्रेष्ठ है ऐसा प्रश्न अज्ञानी के लिए ही सम्भव है किन्तु विवेकी पुरुष के लिए उचित नहीं है। क्यों ? उसे कह रहे हैं] सांख्य शब्द का अर्थ है ज्ञाननिष्ठा। 'सांख्य' शब्द के द्वारा यहां ज्ञाननिष्ठा का अंग जो संन्यास है उसे लक्ष्य किया गया है। 'योग' शब्द का अर्थ है कर्मयोग। संन्यास तथा कर्मयोग का फल एक ही मोक्ष होने पर भी **पृथक् वदन्ति**—वे पृथक् स्वतंत्र है यह अज्ञानी ही कहते हैं। **न पंडिताः**—परन्तु जो लोग पंडित है, वे लोग ऐसा नहीं कहते। उसका कारण यह है कि **एकम् अपि सम्यक् आस्थितः**—इनमें से किसी एक में भी सम्यक् प्रकार से पूर्णतया आस्थित होने पर अर्थात् एक को भी पूर्णरूप से जिन्होंने आश्रय किया है वे **उभयोः फलं विन्दते**—दोनों के ही फल को प्राप्त करते हैं। जैसे कर्मयोगी कर्मों को सम्यक् रूप से अनुष्ठान कर शुद्धचित्त होकर ज्ञान के द्वारा दोनों का फल जो कैवल्य (मोक्ष) है उसे प्राप्त करते है। वैसे ही जो (संन्यास के अधिकारी होकर) संन्यास में पूर्णतया स्थित हैं अर्थात् संन्यास को सम्यक् प्रकार से आश्रय किये हैं वे भी पूर्वानुष्ठित कर्म-योग का परम्परा से प्राप्त फल जो तत्त्वज्ञान है उसे प्राप्त कर उस ज्ञान के द्वारा कर्मयोग तथा संन्यास दोनों का फल जो कैवल्य (मोक्ष) है उसे प्राप्त करते हैं कहने का अभिप्राय यह है कि इन दोनों का फल पृथक् (अलग-अलग) नहीं है।

(२) शंकरानन्द – शंका—'कर्मणा पितृलोकः' (कर्म से पितृलोक

प्राप्त होता है) अर्थात् कर्मियों को पितृलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा श्रुति में कहा गया है अतः 'कर्मानुष्ठानकारी पुरुष अनायास ही संसार वन्धन से मुक्त हो जाता है, ऐसी शास्त्रविरुद्ध वात कैसे कही जा सकती है ?

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो लोग कामना के साथ कर्म करते हैं उनके लिए ही कर्म के फल के रूप से पितृलोक की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा गया है—निष्काम कर्मियों के लिए वह नहीं कहा गया है। इसप्रकार विरुद्धफलवादी के (संन्यास तथा निष्काम कर्मयोग का फल भिन्न है ऐसा जो लोग मानते हैं उनके) मतको तिरस्कार कर संन्यास तथा कर्मयोग दोनों का फल एक ही है, ऐसा निश्चय करके इन दोनों में किसी एक का आश्रय लेने से पुरुष को दोनों का फल जो मोक्ष है वह प्राप्त होता है—इसे अब स्पष्ट कर रहे हैं—

बालाः—वेदान्तशास्त्रार्थ के रहस्य को नहीं जानने वाले कोई कोई विद्वान् पुरुष लोग सांख्ययोगौ—'सर्ववेदान्तैः सम्यक्तत्परत्वेन ख्यायते प्रतिपाद्यते इति सांख्यं परं ब्रह्म' तत्प्राप्तेः परमकारणत्वात् सांख्यं ज्ञाननिष्ठांगभूतः संन्यासः' अर्थात् सर्ववेदान्त के द्वारा सम्यक्प्रकार से, ठीक-ठीक तात्पर्य से जिसका प्रतिपादन किया जाता है वह सांख्य अर्थात् परब्रह्म है। उनकी (उस परब्रह्म की) प्राप्ति का परमकारण होने के कारण ज्ञाननिष्ठा के अंगभूत संन्यास को सांख्य कहा जाता है। योग का अर्थ है कर्मयोग। सांख्य (संन्यास) तथा योग (कर्मयोग) इन दोनों को पृथक् प्रवदन्ति—क्रिया की ओर से, अधिकारी की ओर से एवं आश्रय की ओर से वे जिसप्रकार भिन्न है उस प्रकार फल की ओर से भी वे भिन्न हैं, इस प्रकार साधन तथा फल दोनों दृष्टि से वे भिन्न हैं ऐसा वे लोग कहते हैं अर्थात् 'कर्मणा पितृलोकः' 'स्वर्गं वा एते लोकं यन्ति' (कर्म के द्वारा पितृलोक अथवा ये स्वर्गलोक भी प्राप्त कर लेते हैं) इत्यादि वाक्यों के द्वारा एवं दूसरी ओर 'संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः' (संन्यासयोग के द्वारा शुद्धान्तःकरण होकर यति), 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति' (परम नैष्कर्म्यसिद्धि संन्यास के द्वारा प्राप्त होती है इत्यादि वाक्य के द्वारा संन्यास तथा कर्मयोग इन दोनों का साधनभेद तथा फलभेद का प्रतिपादन करते हैं। यदि शंका हो कि वैसा श्रुति तथा स्मृति के प्रामाण्य के अनुसार उनके (कर्मयोग तथा संन्यास के) फल में जो पार्थक्य है वह मानना युक्त ही है, तब इसके उत्तर में कह रहे हैं—न पंडिताः—वेदान्तशास्त्रपारंगत अर्थात् वेदान्तशास्त्र के रहस्य जो लोग जान गये हैं ऐसे ब्रह्मविद् लोग ऐसा नहीं कहते किन्तु वे सांख्य (संन्यास) तथा कर्मयोग का

फल एक ही है, ऐसा कहते हैं। वह कैसे ? इसका उत्तर यह है कि चित्त-शुद्धि न होने पर तत्त्वमस्यादि वाक्य उन्हें ब्रह्मतत्त्व का बोध कराने में समर्थ नहीं होते और चित्तशुद्धि कर्म एवं उपासना के बिना सिद्ध नहीं होती और कर्म तथा उपासना में प्रवृत्ति कर्म तथा ईश्वर के महत्त्व की स्तुति के बिना सिद्ध नहीं होती। इसलिए श्रुति 'पश्यति पुत्रम्' (पुत्र को देखता है) इत्यादि अर्थवाद (स्तुतिपरक) वाक्य के द्वारा एवं 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः' इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्म तथा ईश्वर दोनों का महत्त्व प्रतिपादन करने पर पुरुष फल में अनुरक्त होकर अर्थात् फल की आशा कर कर्म तथा ईश्वर की उपासना में प्रवृत्त होता है एवं कर्म एवं उपासना के द्वारा शुद्धात्मा (शुद्ध-चित्त) होने से ही उन्हें तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया जाता है वह फलदायक होता है। ज्ञानसिद्धि का कारण चित्तशुद्धि है एवं चित्तशुद्धि का कारण कर्म ही है; अतः कर्म से मोक्षरूप फल की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर ज्ञान का साधन होने के कारण संन्यास का फल भी मोक्ष ही है। श्रुति में कहा गया है—'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥' अर्थात् विद्या तथा अविद्या इन दोनों को जो एक साथ जानते हैं वे अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार कर [अविद्या के द्वारा (शास्त्रविहित कर्मों को निष्काम रूप से भगवदर्पण बुद्धि से करके) मृत्यु को अर्थात् ज्ञान के प्रतिबन्धक चित्त की अशुद्धि को दूर कर] ज्ञान के द्वारा अमृतरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ज्ञान तथा कर्मयोग इन दोनों का एवं ज्ञान तथा संन्यास इन दोनों का साध्यसाधन भाव ज्ञात होता है। इस लिए ज्ञानरूप फल ही दोनों का फल होने के कारण सांख्य (संन्यास अर्थात् कर्मत्याग) तथा कर्मयोग का एक ही मोक्षरूप फल है, ऐसा पंडितलोग मानते हैं। अतः सांख्य तथा कर्मयोग में केवल कारकादिक का ही (कर्ता इत्यादि का ही) भेद रहता है—उनके फल में कोई भेद नहीं है, यह सिद्ध हुआ। अतः **एकम् अपि सम्यक् आस्थितः**—सांख्य तथा योग में से किसी एक में [अपि शब्द या (अथवा) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है] आस्थित होने पर अर्थात् दोनों में से चाहे सांख्य नहीं तो कर्मयोग सम्यक्प्रकार से (भली-भाँति) अनुष्ठित होने पर **उभयोः फलं विन्दते**—मुमुक्षु दोनों का फल अर्थात् मोक्षनामक फल को प्राप्त करते हैं। इसप्रकार सांख्य और कर्मयोग दोनों ही मोक्ष के प्रति (क्रमशः अन्तरंग तथा बहिरंग रूप से), अल्प तथा अनल्प-काल से फलदायक होते हैं। इस कारण तथा साध्य-साधन भाव से तारतम्य रहने पर भी हाथी तथा घोड़े की तरह दोनों का समत्व प्रतिपादित किया गया

है (अर्थात् उनमें भेद रहने पर भी फल की ओर दृष्टि रखकर दोनों एक ही हैं, ऐसा माना गया है)। अनधिकारी पुरुष का कर्म ही कर्तव्य है— संन्यास नहीं, उसे सूचित करने के लिए ही यह कहा गया है।

(३) नीलकण्ठ—सांख्य—यास्क का कहना है कि सांख्य शब्द का अर्थ है सम या एकीभाव। सर्वत्र आत्मा ही एकमात्र विद्यमान है, आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है इसप्रकार जो ज्ञान के द्वारा पारमार्थिक वस्तु का स्वरूप सम्यक्‌रूप से ख्यात (प्रकाशित) होता है उसे संख्या कहा जाता है अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म कारणरूप प्रपंच को निर्विकल्प प्रत्यगात्मा में विलय करने पर जो (अखंडब्रह्माकारा) चित्तवृत्ति का उदय होता है उसे संख्या कहा जाता है। बाहर के दारा आदि (स्त्री पुत्रादि) एवं अन्दर के मनबुद्धि सभी को ही आत्मा में न्यास अर्थात् त्याग (विलीन) करने पर सर्वत्र एक आत्मसत्ता का अनुभव होने के कारण संन्यास को सांख्य कहा जाता है।

(४) नारायणी टीका—जो इस जन्म में या पूर्वजन्म में कर्मयोग का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर मुमुक्षु होकर श्रवण मनन आदि के लिए सांख्यमार्ग का अवलम्बन किये हैं अर्थात् सर्वकर्मों को त्याग किये हैं वे सर्वप्रपंच के अधिष्ठान सत्ता सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही (ब्रह्म ही) सत्य है एवं आत्मा के अतिरिक्त और सभी मायिक (मिथ्या) है यह जानकर आनन्दस्वरूप में ही स्थिति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। इस कारण वे रागद्वेष से मुक्त होकर सर्वत्र (अर्थात् सुख-दुःख में, जय-पराजय में, इष्ट-अनिष्ट में सर्वदा) समत्वबुद्धियुक्त रहते हैं एवं ब्रह्म में स्थिति लाभ करने के अभ्यास द्वारा ब्रह्मानन्द का संस्पर्श प्राप्त करते हैं। समत्वबुद्धि प्राप्त करना ही प्रकृत योग है (गीता २।४८)। सांख्ययोगी को साधना का यही प्रधान फल है क्योंकि समत्वबुद्धि होने से ही सम्यग् दर्शन (ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व साक्षात्कार) एवं परमानन्दरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है। योगी अर्थात् कर्मयोगी को भी निष्काम कर्म के द्वारा उसी एक ही फल की प्राप्ति होती है क्योंकि कर्मयोगी भी अन्दर तथा बाहर एक भगवान् की सत्ता का ही सर्वत्र अनुभव करते हैं। "सर्वत्र एवं सभी रूप में तुम ही विराजमान हो; तुम ही कर्ता, कर्म, करण हो; पुनः तुम ही तुम्हें कर्म करवा रहे हो तथा कर्मफल भी तुम्हारी इच्छा है," ऐसे भावों से भावित होने पर उनकी अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रह सकती इस कर्मयोग की परिपक्व अवस्था में भक्त कर्मयोगी अनुभव करते हैं 'मैं एवं यह जगत् प्रपंच सब कुछ परब्रह्म परमात्मा ही हैं'। अतः कर्मयोग में सिद्धिलाभ करने पर अर्थात् चित्तशुद्धि प्राप्त करने पर सर्वत्र

समत्वबुद्धि या एकत्वज्ञान की उत्पत्ति होती है एवं नटराज के विश्वनाटक को रागद्वेष से शून्य होकर देखते हुए वह आनन्दस्वरूप के आनन्द प्रवाह में अपने ही बहता रहता हैं। अभ्यास दृढ़ होने पर सच्चिदानन्दरूप में लय होकर "आनन्दी" हा जाते हैं। अतः सर्वत्र समत्वबुद्धि तथा परमानन्द (मोक्ष) की प्राप्ति कर्मयोगी को भी क्रमशः होती है। इस कारण से सांख्य तथा कर्मयोग में से किसी एक में निष्ठा रहने पर दोनों का फल जो परमानन्द की प्राप्ति है, वह प्राप्त हो जाता है क्योंकि दोनों एक ही स्थान में (मोक्ष में) पहुँचा देते हैं। जो लोग बाल अर्थात् साधनसम्पत्तिविहीन अज्ञानी हैं वे ही सांख्य तथा योग को (उनके परिणामों (फलों) के भेद की कल्पना कर) पृथक् मानते हैं। जो लोग पंडित अर्थात् तत्त्वदर्शी हैं वे लोग कभी भी ऐसा नहीं कहते हैं।

[कर्मयोग तथा संन्यास में किसी एक का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करने पर दोनों से एक ही मोक्षरूप फल कैसे प्राप्त होता है ? वही अब कहा जा रहा है]

यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

अन्वयः—सांख्यैः यत्स्थानं प्राप्यते तत् योगैः गम्यते । सांख्यं योगं च यः एकं पश्यति सः पश्यति ।

अनुवाद—ज्ञाननिष्ठ संन्यासी लोग जो स्थान प्राप्त करते हैं फलाकांक्षा रहित कर्मयोगी भी वही स्थान प्राप्त करते हैं। जो सांख्य तथा कर्मयोग को एक मानकर (एक रूप से) दर्शन करते हैं वे ही यथार्थदर्शी हैं अर्थात् वे ही सांख्य तथा योग का यथार्थ तत्त्वदर्शन करते हैं।

भाष्यदीपिका—सांख्यैः—ज्ञाननिष्ठ संन्यासी लोगों के द्वारा [अर्थात् वर्तमान जन्म में शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान नहीं करने पर भी पूर्वजन्म में अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से—जिन लोगों का अन्तःकरण संस्कृत (शुद्ध) रहने के कारण आत्मतत्त्व का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ज्ञाननिष्ठ हुए हैं उनके द्वारा। वर्तमान जन्म के अतिरिक्त ज्ञानियों के पूर्ववर्ती जो जन्म हुये थे उन जन्मों में उनके द्वारा अवश्य ही सत्कर्मों (विहित कर्म) का अनुष्ठान हुआ था। 'पूर्वजन्म में अनुष्ठित कर्म के प्रभाव से' ऐसा कहने का अभिप्राय है कि जो लोग पहले से ही वैराग्यवान् होकर कर्मत्याग कर (अर्थात् संन्यास पूर्वक) ज्ञान-निष्ठ हो जाते हैं उन लोगों की पूर्वजन्म में

ज्ञाननिष्ठा थी वह अनायास ही अनुमित होता है चुँकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् विहित कर्मानुष्ठान के बिना चित्त-शुद्धि नहीं हो सकती है, एवं चित्तशुद्धि के बिना ज्ञान का उदय नहीं होता है। शास्त्र में भी ऐसा कहा गया है 'यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत्। सत्कृत्यं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणि स्थितिः।' अर्थात् वर्तमान जन्म के अतिरिक्त अन्य जो जन्म हुए थे उन जन्मों में उस ज्ञानी व्यक्ति के द्वारा अवश्य ही सत् कर्म (शुभ कर्म) अनुष्ठित हुये थे। ऐसा नहीं होने पर उनकी ब्रह्म में स्थिति नहीं हो सकती थी। इस प्रकार जिन लोगों की ईश्वरार्पण बुद्धि में कर्मनिष्ठा दिखती है उन लोगों का भी उसी लिंग (चिह्न) के द्वारा ही (अर्थात् उस कर्मानुष्ठान के चिह्न या लक्षण देखकर ही) यह अनुमान किया जाता है कि भविष्यत् में उनकी संन्यास पूर्वक ज्ञाननिष्ठा होगी एवं उस ज्ञान निष्ठा के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होगी। (मधुसूदन)]

यत्स्थानं प्राप्यते—मोक्ष नाम का जो प्रसिद्ध स्थान प्राप्त होता है। मोक्ष नित्यसिद्ध है अतः नित्यप्राप्त है; ज्ञान के द्वारा केवल उसका अविद्यारूप आवरण नष्ट हो जाता है—इसे ही प्राप्ति या लाभ कहा जाता है। 'तिष्ठत्ये-वास्मिन न तु कदाचिदपि च्यवते' अर्थात् जिसमें केवल अवस्थान ही करना पड़ता है किन्तु जिससे विच्युति नहीं होती है ऐसी व्युत्पत्ति के अनुसार स्थान पद का अर्थ मोक्ष है (मधुसूदन)।

तत्योगैरपि गम्यते—वह (अर्थात् वह मोक्ष) योगियों के द्वारा भी प्राप्त होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिये ईश्वरार्पण बुद्धि से फलकामनारहित होकर जो शास्त्रविहित कर्म अनुष्ठित होते हैं उसका नाम योग (कर्मयोग) है। यह योग जिनमें है उनको भी अर्थात् उस योगी को भी (निष्काम कर्मयोगी को भी) योगी कहा जाता है। ये कर्मयोगी भी उसी स्थान को (मोक्ष को) प्राप्त होते हैं। ['अर्शआदिभ्यः अच्' पाणिनि के इस सूत्र के अनुसार अर्श आदि गणीय योग शब्द के बाद मतुप् प्रत्यय के अर्थ में (अर्थात् 'है' इस अर्थ में) अच् प्रत्यय हुआ है अर्थात् योग है जिनमें ऐसे अर्थ में 'योगी' शब्द के स्थान पर योग शब्द का प्रयोग हुआ है। कर्मयोग के अधिकारी व्यक्ति यदि अपने लिये कर्मफल की आकांक्षा न कर ईश्वरार्पण बुद्धि से यथाविधि आश्रमोचित कर्मानुष्ठान करे तब उनकी चित्तशुद्धि होगी अर्थात् अन्तःकरण के विषया-सक्तिरूप मल दूरीभूत हो जायगा। उसके बाद जिज्ञासा उत्पन्न होने से स्वतः ही परमार्थज्ञान अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में परोक्षज्ञान प्राप्त करने पर ['सर्वद्वैतप्रपंच अवस्तु (मिथ्या) है क्योंकि वह माया के विलास से

भिन्न और कुछ भी नहीं है किन्तु आत्मा अद्वितीय तथा विकाररहित नित्यसत्य वस्तु है' इस प्रकार (शास्त्र तथा गुरुमुख से सुनकर) जिस ज्ञान की उत्पत्ति होती है वही परोक्ष ज्ञान है (आनन्दगिरि)। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने पर] स्वतः ही सर्वकर्मत्यागरूप संन्यास ग्रहण का अधिकारी होते हैं एवं वेदान्त-वाक्य के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा [वर्तमान जन्म अथवा भविष्यत् जन्म में (मधुसूदन)] आत्मा तथा परमात्मा के ऐक्य का अपरोक्ष साक्षात्कार कर एवं तदनन्तर ज्ञाननिष्ठ होकर मुक्तिलाभ करते हैं। इस प्रकार सांख्य (संन्यास) तथा कर्मयोग दोनों का फल एक ही है अर्थात् दोनों के द्वारा अखंड, अद्वितीय, अविक्रियात्मा का दर्शन या मोक्ष की प्राप्ति होती है। **सांख्यं योगश्च**—सांख्य (अर्थात् संन्यास) एवं योग (अर्थात् कर्मयोग) इन दोनों को **यः एकं पश्यति**—एक ही जानता है। सांख्य (संन्यास) साक्षात् भाव से एवं योग (कर्मयोग) क्रमिक भाव से एक ही मोक्षरूप फल प्रसव करता है इसलिये उन दोनों को जो एक ही देखता है। **सः पश्यति**—वही सम्यक् प्रकार से या यथार्थरूप से दर्शन करता है अर्थात् वही यथार्थदर्शी या सम्यक् ज्ञानवान् है। जो लोग सांख्य तथा योग को पृथक् जानते हैं वे यथार्थदर्शी नहीं हैं। [इसके द्वारा श्रीभगवान् सूचित कर रहे हैं कि आत्मज्ञानहीन मुमुक्षु को चित्तशुद्धि के लिए पहले कर्मयोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए एवं चित्तशुद्धि जब तक न हो तब तक सर्वकर्मत्याग रूप संन्यास अवलम्बन न करे। वैराग्य जब तीव्र होता है तब सर्वकर्मों का स्वतः ही संन्यास (त्याग) हो जाता है। (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में जो कहा गया है उसीको स्पष्ट किया जा रहा है—] **यत् स्थानम्**—जो मोक्ष नामक स्थान **सांख्यैः**—ज्ञाननिष्ठ संन्यासियों के द्वारा **प्राप्यते**—प्रकृष्टरूप से प्राप्त होता है **तत्**—वही अर्थात् वह मोक्ष ही **योगैः अपि**—कर्मयोगियों को भी [योग शब्द 'अर्श आदि' पर्यायभुक्त होने के कारण मतुप् अर्थ में (अर्थात् योग है जिनमें—ऐसे अर्थ में) अच् प्रत्यय हुआ है अर्थात् योग शब्द का अर्थ यहाँ योगी (कर्म-योगी) है]। **गम्यते**—(चित्तशुद्धि तथा ज्ञान द्वारा) प्राप्त होता है। **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति**—अतः सांख्य तथा योग इन दोनों को जो एक देखता है [अर्थात् एक ही मोक्षरूप फल प्रदान करनेवाले होने से दोनों को एक ही जो देखता है] वही सम्यग् प्रकार से दर्शन करता है [अर्थात् वही सम्यग् दर्शी या यथार्थदर्शी है]।

(२) शंकरानन्द—सांख्य तथा योग इन दोनों का फल एक ही है

ऐसा जो कहा गया है उसे ही पुनः स्पष्ट करने में दोनों के एकत्व दर्शन की स्तुति कर रहे हैं—**सांख्यैः**—अर्थात् परब्रह्म; उस परब्रह्म को जो आत्मा के रूप से जानते हैं वे भी सांख्य हैं। उन सांख्यों द्वारा अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ यतियों के द्वारा **यत् स्थानम्**—जो स्थान सर्वदा एक रूप से स्थित रहता है, कहीं कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होता है उसे स्थान अर्थात् स्वरूप अर्थात् केवल भावात्मक (सत्तामात्र) स्वरूप कहा जाता है। उस सत्स्वरूप को **प्राप्यते**—प्राप्त होता है अर्थात् उसे अपने आत्मा के रूप से जाना जाता है। **योगैः अपि**—फलाभिसन्धिरहित होकर ईश्वरप्रीति के लिए जो वैदिक कर्म किये जाते हैं वह मोक्ष का उपाय होने के कारण (परब्रह्म के साथ योग या एकात्मता-लाभ करने का उपाय होने के कारण) उसे योग कहा जाता है। वह योग जिसका है अर्थात् निष्काम कर्म का अनुष्ठान जो करता है उसे भी 'योग' कहा जाता है। मतुब् के अर्थ में अच् प्रत्यय कर योगवान् (योगी) शब्द के स्थान में योग शब्द प्रयुक्त हुआ है। उस योगों के द्वारा अर्थात् कर्मनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा **तत्** (**एव**)—वह स्थान ही अर्थात् मोक्ष नामक स्थान **गम्यते**—प्राप्त होता है। निरन्तर श्रद्धा के साथ अनुष्ठित (निष्काम) कर्म से चित्तशुद्धि, चित्तशुद्धि से ज्ञान एवं उसके बाद ज्ञानयोग (ज्ञाननिष्ठा) प्राप्त कर उसके द्वारा 'तत्स्थानं गम्यते' अर्थात् उस परब्रह्म को अपनी आत्मा के रूप से जानने में समर्थ होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। 'एष पन्था एतत्कर्मैतद् ब्रह्म' (यह मार्ग, यह कर्म, यह ब्रह्म) इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा सांख्य (ज्ञानयोग) एवं योग (कर्मयोग) दोनों का एक ही फल होता है—यह प्रमाणसिद्ध है। अतः **सांख्यं योगं च एकं यः पश्यति**—सांख्य (ज्ञान-योग) एवं योग को (कर्मयोग को) जो एक ही देखता है अर्थात् उनके द्वारा एक ही मोक्षरूप फल प्राप्त होता है इसलिए मोक्ष के साधन के रूप से भी सांख्य तथा योग दोनों ही एक है एवं उनका प्रयोजन भी (उद्देश्य भी) एक है, ऐसा जो देखता है (जानता है) **सः पश्यति**—वह ही सम्यग्दर्शी है, दूसरा नहीं।

(२) **नारायणी टीका**—इस श्लोक का तात्पर्य पूर्व श्लोक की टीका में स्पष्ट किया गया है।

[यदि कर्मयोगियों को भी ज्ञानपूर्वक संन्यास के द्वारा श्रेयः लाभ अर्थात् मोक्ष प्राप्ति करना हो तब कर्मयोग से संन्यास ही उत्कृष्ट है, ऐसा प्रमाणित होता है। यदि ऐसा ही हो तब कर्मसंन्यास से कर्मयोग ही उत्कृष्ट है, ऐसा क्यों कहा गया ? इसका उत्तर दे रहे हैं—]

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

अन्वयः—हे महाबाहो ! अयोगतः तु संन्यासः दुःखम् आप्तुम् (भवति) । योगयुक्तः मुनिः न चिरेण ब्रह्म अधिगच्छति ।

अनुवाद—हे महाबाहो अर्जुन ! विना कर्मयोग (पारमार्थिक) संन्यास प्राप्त होना कठिन (दुष्कर) है । योगयुक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं ।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो ! हे अर्जुन ! तुम तो महाबाहु अर्थात् अति शक्तिशाली हो । तुम युद्धरूप कर्म करने से भीत होकर वृथा ज्ञानहीन संन्यास ग्रहण नहीं करोगे, यह मेरा विश्वास है । यही सूचित करने के लिए भगवान् ने यहाँ अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधन किया । [तुम केवल कर्मसंन्यास एवं केवल कर्मयोग इन दोनों में से कौन श्रेष्ठ है ? उसे जानना चाह रहे हो एवं मैं भी उसीके ही अनुरूप उत्तर दे रहा हूँ कि (ज्ञानरहित) कर्मसंन्यास से कर्मयोग उत्कृष्ट है । ज्ञान की अपेक्षा न करके (ज्ञानलाभ करने के पहले ही) जो संन्यास (कर्मत्याग) किया जाता है वह पारमार्थिक संन्यास नहीं है अतः उससे कर्मयोग की उत्कृष्टता (श्रेष्ठता) मैंने वर्णन किया है । किन्तु ज्ञानसहित जो संन्यास है वही मेरे मत में सांख्य है—वही परमार्थ योग है । ईश्वरार्पण बुद्धि से वेदविहित अपने अपने कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान भी उस ज्ञानपूर्वक संन्यासप्राप्ति का (अर्थात् सांख्य या परमार्थ योग की प्राप्ति का) उपाय होने के कारण उसे भी योग एवं संन्यास लक्षणा-वृत्ति के द्वारा (अर्थात् गौणरूप से) कहा जाता है । कर्मयोग परमार्थयोग का (प्रकृत संन्यास का) क्यों कारण होता है वह कहा जा रहा है]—

अयोगतः—योग बिना (विना कर्मयोग के) अर्थात् अन्तःकरण की शुद्धि का सम्पादन करने के लिए वेदादि शास्त्र में जो समस्त कर्म विहित हैं उन्हें (भगवदर्पण बुद्धि से फलाकांक्षारहित होकर) अनुष्ठान न करने से तु—किन्तु संन्यासः—पारमार्थिक संन्यास (ज्ञाननिष्ठा लक्षणरूप संन्यास जिसे 'सांख्य' शब्द के द्वारा पहले उल्लेख किया गया है वह संन्यास)

दुःखम् आप्तुं भवति—कष्ट के साथ प्राप्त होता है अर्थात् दुष्प्राप्य है (प्राप्त करना कठिन है) । यदि इस जन्म या पूर्वजन्म में किये हुए कर्म-योग के द्वारा चित्तशुद्धि न हो तब ज्ञाननिष्ठा लक्षण रूप संन्यास प्राप्त होना

सम्भव नहीं है क्योंकि कारणाभाव में कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती। विहित कर्मानुष्ठान के बिना बुद्धि शुद्धि (चित्तशुद्धि) नहीं होती है एवं चित्तशुद्धि के बिना सम्यक्ज्ञानात्मक (सम्यक् ज्ञान ही जिसका स्वरूप है वह) पारमार्थिक संन्यास प्राप्त होना सम्भव नही है, यही कहने का अभिप्राय है। [मधुसूदन सरस्वती ने 'संन्यासः दुःखम् आप्तुम् भवति' इसका अर्थ इस प्रकार किया है—विहित कर्मानुष्ठान न कर अतः चित्तशुद्धि लाभ न कर यदि कोई हठ-पूर्वक संन्यास अवलम्बन करे तब वह ज्ञानरहित-संन्यास दुःख प्राप्ति का हेतु होता है अर्थात् दुःख भोग करने के लिए ही होता है क्योंकि जिस व्यक्ति ने कर्मयोग का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त किया है उसके लिए संन्यास का फल जो ज्ञाननिष्ठा है वह कभी नहीं प्राप्त होती है। पुनः संन्यास ग्रहण करने के बाद जिन शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि होती है उन कर्मों में भी उसका अधिकार नहीं रहता है। अतः वह कर्म एवं ब्रह्म (तत्त्वज्ञान) दोनों से ही भ्रष्ट होकर परम संकट में पड़ता है (अर्थात् महादुःख में निपतित होता है)]। यदि किसी का पहले ही बिना कर्मानुष्ठान के कर्मसंन्यास एवं तदनन्तर ज्ञान-निष्ठा दिखती है तब समझना पड़ेगा कि पूर्वजन्म में उसकी कर्मयोग में निष्ठा थी जिसके प्रभाव से इस जन्म में पहले से ही चित्तशुद्धि रहने के कारण संन्यास में प्रवृत्ति हुई है। कारण के बिना (कर्मयोग के बिना) कार्य (चित्तशुद्धिपूर्वक संन्यास) की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतः जिनलोगों की ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्म में निष्ठा दिखती है उनलोगों में भी जो भविष्यत् में संन्यासपूर्वक ज्ञान-निष्ठा की उत्पत्ति होगी, यह भी कार्यकारण रूप सम्बन्ध द्वारा अनुमित होता है। **योगयुक्तः**—फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से वेदविहित कर्मानुष्ठान को योग कहा जाता है। उस योग (कर्मयोग) के द्वारा जो युक्त रहता है एवं उसके फलस्वरूप चित्तशुद्धि जो प्राप्त करता है, ऐसे **मुनिः**—ईश्वर-स्वरूप का (आत्मतत्त्व का) मनन जो करता है उसे मुनि कहा जाता है। योगयुक्त तथा मननशील योगी **न चिरेण**—अति शीघ्र ही **ब्रह्म अधिगच्छति**—परमात्मज्ञान (परमात्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान) जिसका लक्षण है ऐसे यथार्थ संन्यास को ब्रह्म कहा जाता है। श्रुति में कहा गया है 'न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः' अर्थात् न्यास (संन्यास ही) ब्रह्म है एवं ब्रह्म ही पर (सर्वश्रेष्ठ) है। इस श्रुति वाक्य के अनुसार इस स्थान में ब्रह्म शब्द के द्वारा मुख्य संन्यास को (तत्त्वज्ञाननिष्ठा को) समझाया गया है। [परमात्मज्ञान में निष्ठा होने से अर्थात् ब्रह्मस्वरूप में निरन्तर स्थिति लाभ करने से जो संन्यास

(सर्वकर्मत्याग) स्वतः ही होता है उसे ही यहाँ ब्रह्म शब्द के द्वारा अभिहित किया गया है]। अतः 'ब्रह्म अधिगच्छति' पदका अर्थ होगा ब्रह्म शब्द वाच्य परमार्थसंन्यास (जो पहले सांख्य शब्द के द्वारा प्रस्तावित हुआ है वह संन्यास) प्राप्त होता है। अतः भगवान् ने ५।२ श्लोक में जो कहा है कि ज्ञानरहित संन्यास से कर्मयोग उत्कृष्ट है, वह युक्तियुक्त ही है। [इस श्लोक की ऐसी व्याख्या भी हो सकती है—(१) जो योगयुक्त होकर अर्थात् कर्मयोग से (ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्म करते हुए भगवान् के साथ) युक्त रहकर चित्तशुद्धि प्राप्त कर तथा मुनि होकर (अर्थात् सभी कर्मों को त्याग कर केवल परमात्मतत्त्व में मननशील होकर) यथार्थ संन्यासी हुआ है। वह वैसी निष्ठा के द्वारा अतिशीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात् 'वह ब्रह्म मैं हूँ'। इस प्रकार निरवच्छिन्नरूप से अनुभव करता रहता है। इसके द्वारा यही सूचित होता है कि कर्मानुष्ठान के द्वारा जिनकी चित्तशुद्धि नहीं हुई है ऐसे अपक्वान्तःकरण विशिष्ट पुरुष कर्मसंन्यास करने पर भी अर्थात् कर्म वाह्यतः त्याग कर संन्यासी का लिंग (चिह्न) धारण करने पर भी उसका मुख्य संन्यास सिद्ध नहीं होता। अपरपक्ष में (दूसरी ओर) कर्मयोग चित्त-शुद्धि उत्पन्न कर स्वभावतः ही यथार्थ संन्यास में (कर्मत्याग में) परिणत होता है एवं उसके द्वारा शीघ्र ही ब्रह्मप्राप्ति अर्थात् सर्वत्र आत्मदर्शन रूप फल की प्राप्ति होती है। (२) मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार व्याख्या किया है कि जो व्यक्ति कर्मयोग से युक्त है उनका अन्तःकरण शुद्ध होने के कारण मुनिः—आत्मतत्त्वमननशील संन्यासी होकर [अर्थात् सविशेष ईश्वरतत्त्व नहीं, किन्तु निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व का मनन करना ही उसका स्वभाव होने के कारण अन्य समस्त वस्तु का तथा कर्म का संन्यास (त्याग) कर] ब्रह्म—'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इत्यादि जिसका लक्षण है उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा को न चिरेण—शीघ्र ही अधिगच्छति—साक्षात्कार करता है। अभिप्राय यह है कि उसके चित्त के अशुद्धिरूप प्रतिबन्धक का अभाव होने के कारण वह शीघ्र ही ब्रह्मस्वरूप आत्मा को साक्षात् करता है। भगवान् ने पहले भी कहा है कि 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। न च संन्यासनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'' (गीता ३।४) अर्थात् कोई पुरुष कर्मों के अनुष्ठान से विरत रहने पर ही नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं कर सकता। और केवल कर्मसंन्यास (कर्म-त्याग) करके ही सिद्धिलाभ करने में समर्थ नहीं होता है। अतः कर्मयोग तथा संन्यास का परिणाम एक होने पर भी चूँकि कर्मयोग के बिना चित्तशुद्धि होना सम्भव नहीं है उस कारण ज्ञानरहित कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग

ही विशिष्ट है—ऐसा जो श्रीभगवान् ने श्लोक २ में कहा है वह युक्तियुक्त ही है। (३) आनन्दगिरि ने उनकी टीका के उपसंहार में कहा है–नदी का स्रोत जिस प्रकार समुद्र की ओर जाता है उस प्रकार शास्त्र विहित कर्मों का निष्काम रूप से (भगवदर्पण बुद्धि से) अनुष्ठान करने पर उसके द्वारा कर्मयोगी अत्यन्त परिपक्वकषाय (शुद्धचित्त) होते हैं एवं तब उनकी इन्द्रियाँ (मन के साथ) सभी विषयों से व्यावृत्त (प्रत्याहृत) होकर (समुद्र की तरह) निर्विशेष सर्वोपाधिवर्जित कूटस्थ प्रत्यगात्मा को अन्वेषण करने में प्रवृत्त होती हैं अर्थात् आत्मनिष्ठ होती हैं। इसलिए कर्मयोग परमार्थ संन्यास प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसे 'विशिष्ट' (श्रेष्ठ) कहा गया है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—कर्मयोगी को भी यदि अन्त में (अवशेष में) संन्यास द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा होती है तब तो पहले से ही संन्यास (सर्वकर्म-त्याग) करना उचित है। अर्जुन ऐसा सोच सकते हैं, अतः वैसी शंका का निवारण करने के लिये भगवान् अब कह रहे हैं—अयोगतः—बिना कर्म-योग के संन्यासः तु दुःखम् आप्तुम्—संन्यास को प्राप्ति दुःख का हेतु होती है अर्थात् अशक्य है (बिना कर्मयोग के संन्यास प्राप्त करने में कोई भी समर्थ नहीं होता है)। कर्मयोग बिना चित्तशुद्धि नहीं होता है—चित्त-शुद्धि के विना ज्ञाननिष्ठा असम्भव है। परन्तु योगयुक्तः–जिस साधक ने कर्म-योग में युक्त होकर चित्तशुद्धि लाभ किया है वह मुनिः—मननशील होकर संन्यासी (सर्वकर्मत्यागी) होता है एवं उसके बाद अचिरेण—शीघ्र ही ब्रह्म अधिगच्छति—ब्रह्म को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्म को अपरोक्ष भाव से जान लेता है (साक्षात् करता है)। अतः चित्तशुद्धि के पहले 'संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही विशिष्ट (श्रेष्ठ) है' ऐसा वचन जो श्रीभगवान् ने कहा है वह सिद्ध हुआ। बृहदारण्यक भाष्य की व्याख्या में वार्तिककार सुरेश्वरा-चार्य ने भी कहा है "प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासि-नोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः ॥" (बृह० वार्तिकसार १।४।११६७) अर्थात् जिनका आशय (अन्तःकरण) दैवदूषित (प्रारब्ध पाप कर्म के द्वारा दुष्ट) रहता है अर्थात् जो लोग शुद्धचित्त नहीं हैं वे लोग संन्यासी होने पर भी वे प्रमादी (आत्मचिन्तन में असावधान), बहिश्चित्त, पिशुन (दूसरों के निन्दाकारी) एवं कलहोत्सुक देखे जाते हैं (अर्थात् चित्तशुद्धि के पहले कर्मसंन्यास करने से ये सब कुफल प्रायः ही दिखते हैं)।

(२) शंकरानंद—चूँकि संन्यास तथा कर्मयोग दोनों का फल एक मोक्ष ही है, यह पूर्वप्रदर्शित न्याय के अनुसार (अर्थात् युक्ति के द्वारा)

सिद्ध हुआ उस कारण अपक्वान्तःकरण (अशुद्ध चित्त) मोक्षार्थी का कर्म करना ही कर्तव्य है—संन्यास (सर्वकर्मत्याग) कभी भी उसके लिए उचित नहीं है क्योंकि अपक्वान्तःकरण पुरुष का संन्यास दुर्घट है (अर्थात् संन्यास सम्भव नहीं है), ऐसा उपदेश करते हुए श्रीभगवान् जो कर्म के द्वारा जिनका 'मृदितकषाय' हुए हैं अर्थात् कर्मानुष्ठान के द्वारा जिनका पाप नष्ट हो गया है इसप्रकार पुरुष का संन्यास ही कर्तव्य है, ऐसा उपदेश अब भगवान् दे रहे हैं—

अयोगतः—अयोग में अर्थात् कर्मयोग के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं करने पर संन्यासः तु दुःखम् आप्तुम्—ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास प्राप्त करने से (अधिगत करने से संन्यास सिद्ध होना दुर्घट (असम्भव) है। एकमात्र चित्तशुद्धि के द्वारा ही ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास सिद्ध हो सकता है। 'कारण का अभाव होने पर कार्य का भी अभाव होगा' इस युक्ति के अनुसार निष्काम कर्म के द्वारा जो चित्तशुद्धि होती है उसका अभाव होने पर संन्यास (किसी प्रकार से ही) सिद्ध नहीं हो सकता। अतः कर्मयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न एकमात्र चित्तप्रसाद (चित्तशुद्धि) से ही संन्यास की प्राप्ति होती है ऐसा निश्चय करके कर्मयोग के द्वारा सुपक्वान्तःकरण (शुद्धान्तःकरण) वाले मुमुक्षु के लिए संन्यास ही कर्तव्य है—ऐसा अभिप्राय व्यक्त करने के लिए भगवान् कहते हैं—योगयुक्तः—योग अर्थात् कर्मयोग के अनुष्ठान से उत्पन्न हुए चित्तप्रसाद से (चित्तशुद्धि से) संयुक्त होकर मुनिः—गृहस्थ स्वयं (मननशील गृही) ब्रह्म—ब्रह्म शब्द से यहाँ संन्यास को समझाया जा रहा है। 'न्यास इति ब्रह्म ब्रह्म हि परः' (न्यास अर्थात् संन्यास ही ब्रह्म है एवं ब्रह्म ही पर अर्थात् परमात्मा है) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार ब्रह्मस्वरूप से अवस्थानरूप प्रधान संन्यास को ही यहाँ ब्रह्म शब्द के द्वारा लक्ष्य किया गया है। इस ब्रह्म (या संन्यास) को परिपक्वान्तःकरण (शुद्धचित्त) वाले मुमुक्षु अधिकारी पुरुष न चिरेण—शीघ्र ही अधिगच्छति—प्राप्त होता है। अथवा योगयुक्तः—कर्मयोगानुष्ठान से उत्पन्न चित्तशुद्धि से संयुक्त मुनिः—मुमुक्षु स्वयं ही चित्तशुद्धि की महिमा से मुनि अर्थात् संन्यासी (जो संन्यास के लक्षणों में कहे गये हैं वैसा संन्यास से युक्त) होकर उस संन्यास की निष्ठा द्वारा न चिरेण—शीघ्र ही ब्रह्म अधिगच्छति—'मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार अप्रतिबद्ध (अविच्छिन्न) वृत्ति के द्वारा अपने को ब्रह्म के रूप से ही जानता है। इसके द्वारा सूचित हो रहा है कि अपक्वान्तःकरण पुरुष के द्वारा कर्मसंन्यास किये जाने पर भी उसके द्वारा मुख्यसंन्यास सिद्ध

नहीं होता और परिपक्वान्तःकरण (शुद्धचित्त) पुरुष का तो बाहर तथा भीतर सर्वत्र संन्यास सिद्ध होता है (अर्थात् ब्रह्मरूप आत्मा के अतिरिक्त दूसरा सब कुछ वे त्याग कर देते हैं) एवं उसका फल जो सर्वात्मताप्राप्ति ('सब ही में हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव) वह भी सिद्ध होती है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया कि सांख्य (यथार्थ संन्यास) तथा योग (कर्मयोग) को जो एक अर्थात् अभिन्न मानते हैं वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं और जो लोग उन्हें पृथक् मानते हैं वे लोग मूर्ख हैं। अब शंका हो सकती है कि यदि संन्यास कर्मयोग से किसी प्रकार से निकृष्ट नहीं है तब द्वितीय श्लोक में क्यों कहा गया है कि कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है ? इसके उत्तर में अब भगवान् कह रहे हैं कि संन्यास दो प्रकार के हैं (१) ज्ञानरहित संन्यास एवं (२) ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास। कर्मयोगानुष्ठान द्वारा जिनकी चित्तशुद्धि हुई है वे श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ('मैं निष्क्रिय निरवद्य अविकारी अखंडाद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को) प्राप्त करते हैं। इस ज्ञान में निष्ठा अर्थात् स्थिति लाभ होने से स्वतः सर्वकर्मत्याग होता है। यह ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास ही यथार्थ संन्यास है। अयोगतः—अर्थात् कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि न होने पर ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है अतः ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास प्राप्त करना सम्भव नहीं है किन्तु योगयुक्त होकर अर्थात् निष्काम कर्मयोगी होकर मुनि—होने पर [चित्तशुद्धि प्राप्त कर आत्मतत्त्व का ही मननशील होने पर अर्थात् सर्वदा आत्मचिंतन करने से] वह योगी सर्वकर्मत्यागी यथार्थसंन्यासी होते हैं। ऐसा संन्यासी होने से ही अतिशीघ्र ब्रह्म को प्राप्त करते हैं अर्थात् सत्य-ज्ञानादिलक्षण (सत्यं ज्ञानमनन्तं) ब्रह्म को आत्मरूप से साक्षात्कार करते हैं। किन्तु जो लोग कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं किये हैं उन-लोगों का संन्यास (कर्मत्याग) दुःख का कारण होता है। उनलोगों के अन्तर में रागद्वेष रहने के कारण लय विक्षेप से वे लोग मुक्त नहीं हो सकते हैं अतः ज्ञाननिष्ठा उनके लिए असम्भव है। पुनः संन्यास ग्रहण कर गृहस्थ कर्मयोगियों के सदृश वे कर्म कर नहीं सकते हैं क्योंकि संन्यासी के लिए यज्ञादि कर्म निषिद्ध है। अतः अशुद्धचित्त रहने के कारण एक ओर जैसे श्रवण मनन आदि के लिए वह संन्यासी अयोग्य है पुनः चित्तशुद्धि के उपयोगी कर्मानुष्ठान में भी वह अनधिकारी है। अतः वह दोनों ओर से ही नष्ट हो जाता है अर्थात् ज्ञान तथा कर्म दोनों से ही वह भ्रष्ट हो जाता है।

इसप्रकार ज्ञानरहित अशुद्धचित्त व्यक्ति के संन्यास को (कर्मत्याग को) लक्ष्य करके ही द्वितीय श्लोक में कहा गया है—'कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' (कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है)। यथार्थ संन्यास के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा गया है क्योंकि भगवान् ने इस श्लोक में कहा है कि यथार्थ संन्यास होने पर न चिरेण ब्रह्म अधिगच्छति-(शीघ्र ही ब्रह्म साक्षात्कार करते हैं)। अशुद्धचित्त संन्यासी किसप्रकार उभयलोक से भ्रष्ट होते हैं वह भागवत में इस प्रकार दिखाया गया है। "यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः। ज्ञान-वैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥ सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते माञ्च धर्महा। अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥' अर्थात् जिसका कामक्रोधादि षड्रिपु असंयत है एवं इन्द्रियों का सारथी जो मन है वह भी प्रचंड है, जो व्यक्ति ज्ञान तथा वैराग्य रहित है परन्तु केवल जीविकानिर्वाह के लिए त्रिदण्ड (संन्यास का चिह्न) धारण करता है वह धर्मघाती व्यक्ति देवताओं की अपनी एवं अन्तःस्थित मेरी भी (श्रीभगवान् की अर्थात् परमात्मा की भी) वंचना करता है। ऐसे अविपक्वकषाय (अविशुद्धचित्त) संन्यासी इहलोक एवं परलोक से परिभ्रष्ट होता है।

[अच्छा, कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर संन्यासधर्म अवलम्बन कर वारबार श्रवण आदि साधन का अनुष्ठान करके जो लोग सम्यग् ज्ञान प्राप्त किये हैं वे भी पहले की तरह जीवन धारण के लिए अथवा लोकसंग्रह प्रभृति के लिए कर्म करते हुए देखे जाते हैं। कर्म जब बन्धन का कारण है तब पूर्वश्लोकोक्त ब्रह्मपद लाभ करके भी वैसे कर्म के द्वारा जन्ममृत्यु रूप संसार गति ही क्या प्राप्त होगी ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, जब वह पुरुष सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति का उपाय अवलम्बन कर निम्नोक्त विशेषणों द्वारा युक्त होकर सम्यग्दर्शी होते हैं तब प्रातिभासिकी (मायिक) प्रवृत्ति को अनुसरण कर वाह्य कर्मों को करके भी वे कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं (आनन्दगिरि)]।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

अन्वयः—योगयुक्तः विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन् अपि न लिप्यते।

अनुवाद—जो कर्मयोग में युक्त, विशुद्धचित्त, संयतदेह, जितेन्द्रिय हैं एवं जिसकी आत्मा सर्वभूत के आत्मभूत है (अर्थात् जो सर्वभूत की

आत्मा को अपनी आत्मा ही जानता है) ऐसा व्यक्ति कर्म करके भी लिप्त नहीं होता है (अर्थात् कर्मबन्धन को प्राप्त नहीं होता है) ।

भाष्यदीपिका—योगयुक्तः--सम्यग् दर्शन प्राप्ति का उपायभूत पूर्ववर्ती श्लोक में वर्णित योग के द्वारा युक्त [फलाभिसन्धिरहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिकादि कर्म के अनुष्ठान को योग अर्थात् कर्मयोग कहा जाता है। इस प्रकार योग से (आनन्दगिरि, मधुसूदन)] युक्त हुआ है जो व्यक्ति। अथवा अनेक दिनों तक जो समाधि योग का अनुष्ठान कर रहा है वैसा योगी (शंकरानन्द)

विशुद्धात्मा—विशुद्ध अन्तःकरण अर्थात् निर्मलचित्त । [कर्मयोगानुष्ठान कर रजः तथा तमो गुण के दोष अर्थात् रागद्वेष प्रभृति से मुक्त होकर विशेषरूप से शुद्ध (निर्मल) हुई है जिसकी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण वह विशुद्धात्मा है (मधुसूदन)] बुद्धि शुद्ध होने पर कार्य कारण संघातरूप देह एवं इन्द्रियाँ भी अपने अधीन होकर कार्य करती हैं अर्थात् वशीभूत रहती हैं, उसे ही अब कह रहे हैं।

विजितात्मा—विजित देह अर्थात् जिसकी देह अपने वशीभूत हुई है, जितेन्द्रियः—जो वहिरिन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) सभी को अपने वश में रखता है [इसके द्वारा मनु ने जो त्रिदंडी संन्यासी के सम्बन्ध में कहा है वही निर्देश किया गया। "वाग्दंडोऽथ मनोदंडः कायदंडस्तथैव च। यस्यैते नियता दंडाः स त्रिदंडीति कथ्यते ॥" अर्थात् वाक्दंड, मनोदंड एवं कायदंड ये तीन दंड जिनके अधीन है उन्हीं को त्रिदंडी कहा जाता है। यहाँ 'विशुद्धात्मा' शब्द के द्वारा मनोदंड, 'विजितात्मा' शब्द के द्वारा देहदंड एवं 'जितेन्द्रिय' शब्द के द्वारा वाग्दंड समझाया जा रहा है। ऐसे व्यक्ति को तत्त्वज्ञान अवश्य ही होता है यही अब कहा जा रहा है (मधुसूदन)] ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा--ब्रह्मा से स्तम्भ तक सभी भूतों की आत्मा ही अपने आत्मरूप में (प्रत्यक् चेतन के अर्थात् अन्तरात्मा के रूप में) जिसको अनुभूत हुआ है वह सम्यग् दर्शी के अर्थात् जो सम्यग् दर्शन या तत्त्वज्ञान प्राप्त कर जड़ चेतनात्मक समस्त जगत को ही अपने आत्मरूप से जानता है वह कुर्वन् अपि—लोक संग्रह के लिए [अथवा शरीर यात्रा निर्वाह के लिए (प्राणधारण के लिए) यत्किंचित्] कर्म करने पर भी न लिप्यते--उन कर्मों के द्वारा लिप्त नहीं होता है अर्थात् उन उन कर्मों के पाप या पुण्यफल के द्वारा बद्ध नहीं होता है [क्योंकि वह सर्वत्र एकमात्र आत्मा का ही दर्शन

करता है, इसलिए उसकी अपनी दृष्टि में कोई कर्म नहीं रहता है क्योंकि तब कर्ता, कर्म, करण प्रभृति सब एक हो जाता है)। अतः दूसरों की दृष्टि से अर्थात् अज्ञ व्यक्ति की दृष्टि से कर्म करते रहने पर भी वह वस्तुतः कोई कर्म नहीं करता है अर्थात् आत्मा में कोई कर्त्तृत्व नहीं है यह जानकर कर्म में सदा ही अकर्म ही देखता है। इसलिए ऐसा ज्ञानी देहेन्द्रियादि के द्वारा कर्म करते रहने पर भी उन कर्मों के फल द्वारा बद्ध नहीं होता है।

[इस श्लोक में 'कुर्वन् अपि' इस पद का अर्थ यह नहीं है कि तत्त्वज्ञानी की (ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की) ज्ञानोत्पत्ति के बाद उसका पहले की तरह शास्त्रविहित कर्मयोग लोकसंग्रह के लिए करना कर्तव्य है क्योंकि ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य साक्षात्कार होने के पश्चात् जिसको मिथ्याज्ञान निःशेष हो गया है उसके लिए 'यह मेरा कर्तव्य है, ऐसी बुद्धि के द्वारा अज्ञानमूलक कर्मयोग अनुष्ठान करना असम्भव है। मिथ्याज्ञान एवं उसके कार्य का सम्पूर्ण विरोधी है सम्यग् ज्ञान। अतः जिस प्रकार स्थाणु-ज्ञान होने पर (अर्थात् लकड़ी की खूटी को ठीक ठीक रूप से जानने पर) उसमें चोर भ्रान्ति एवं उस भ्रान्ति जनित भय तथा कल्पनादिरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी प्रकार जगद् भ्रान्ति की अधिष्ठान सत्ता जो कूटस्थासंग चित्स्वरूप आत्मा हैं उन्हें सर्वत्र तथा सर्वदा (निरन्तर) जो विद्वान् पुरुष देखता है (अनुभव करता है) उसकी अनात्मवस्तु में (देहेन्द्रियादि में) आत्मबुद्धि कर एवं कर्त्तृत्व भोक्तृत्व आदि का अभिमान कर कर्त्तव्य बुद्धि के द्वारा कर्मानुष्ठान करना स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार ज्ञानी का सर्व कर्म संन्यास (त्याग) हो जाता है यह पहले ही 'योगयुक्तः मुनिर्ब्रह्माधिगच्छति' इत्यादि वाक्य की (गीता ५।६ श्लोक की) व्याख्या में कहा गया है ज्ञानी व्यक्ति पश्यन्, शृण्वन् अर्थात् देखना, सुनना इत्यादि त्रयोदश साधारण कर्म करके भी स्वयं कुछ भी नहीं करता है इसे बाद में भी (गीता ५।८-९ श्लोक में) कहा जायगा ! अतः विधि विधानादि सभी प्रकार के दृश्य वस्तुओं में जिसका मिथ्यात्व ज्ञान दृढ़ हुआ है उसके लिए विधेयत्व (कर्तव्यत्व) रहना असम्भव है अर्थात् ऐसे ब्रह्मविद् एवं जीवन्मुक्त पुरुष के आहारादि के लिए देहेन्द्रियादि की चेष्टा रहने पर भी विधिपूर्वक किसी कर्म का तथा कर्तव्यता का लेश मात्र भी रहना सम्भव नहीं है। इस कारण गीता ३।१७ श्लोक में कहा गया है 'तस्य कार्यं न विद्यते' (गीता ३।१७) अर्थात् उसका और कोई कार्य नहीं रहता है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्मयोगादि के द्वारा क्रम से ब्रह्म

साक्षात्कार होने पर भी वह ब्रह्मदर्शी पुरुष उसके द्वारा किये गये कर्म से बद्ध तो होगा ही ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—]

योगयुक्तः—कर्मयोग में युक्त (कर्मयोग में निष्ठावान्) अतः **विशुद्धात्मा**—विशुद्ध आत्मा (चित्त) हुई है जिसकी वह अतः **विजितात्मा**—विजित (वशीकृत) हुई है आत्मा (शरीर) जिसके द्वारा वह अतः **जितेन्द्रियः**—इन्द्रियों का कर्म जित (वशीकृत) हुआ है जिसके द्वारा वह अतः उसके बाद **सर्वभूतात्मभूतात्मा**—सभी भूतों के (प्राणियों के) आत्मभूत (आत्मस्वरूप परमात्मा ही) जिसको आत्मा हो गया है ऐसा व्यक्ति **कुर्वन् अपि**—लोक संग्रह के लिए अथवा स्वाभाविक कर्म करता हुआ भी **न लिप्यते**—उन कर्मों के द्वारा लिप्त अर्थात् बद्ध नहीं होता है।

(२) **शंकरानन्द**—जिन्होंने कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि को प्राप्त किया है, जितेन्द्रिय एवं सर्वात्मभाव को प्राप्त किये हैं ऐसे ब्रह्मवित्तम (ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ) यति यदि शारीरिक (शरीर यात्रा का निर्वाह करने के लिए) कोई कर्म करते रहे तो भी उस कर्म के द्वारा वह लिप्त नहीं होता है, यही अत्र कह रहे हैं—

योगयुक्तः—कर्मयोग के द्वारा युक्त अर्थात् जो अनेक दिनों तक कर्मयोगानुष्ठान कर रहा है अथवा—पूर्ववर्ती श्लोक में 'मुनिर्ब्रह्माधिगच्छति' कहकर जो मुख्य संन्यास प्राप्ति के बारे में कहा गया है उसके अनुसार जो योगयुक्त है अर्थात् योग के द्वारा (ब्रह्मनिष्ठारूप संन्यास-योग के द्वारा) जो युक्त है अर्थात् अनेक दिनों तक समाधि योग जिसके द्वारा अनुष्ठित हुआ है वह। उस कारण से वह **विशुद्धात्मा**—विशुद्ध चित्त है रागद्वेष आदि दोषों से जिसकी आत्मा (मन) वियुक्त हो गई है उसको विशुद्धात्मा कहा जाता है। इसलिए वह **जितेन्द्रियः**—जितेन्द्रिय है। जित हुई हैं अर्थात् विषयों से विमुख हो गई है जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ उसे जितेन्द्रिय कहा जाता है। विशुद्धात्म एवं जितेन्द्रियत्व दीर्घकाल तक निरन्तर अनुष्ठित समाधि के द्वारा ही प्राप्त होते हैं अतः **विजितात्मा**—'आत्मायत्नधृतिस्वान्तस्वभावपरमात्मसु' अर्थात् अभिधान के अनुसार आत्मा शब्द यत्न, धृति, अन्तःकरण, स्वभाव तथा परमात्मा में प्रयोग होता है। जिसके द्वारा आत्मा अर्थात् बाह्यवासनारूप स्वभाव विजित अर्थात् दूरीकृत हो गया है वह विजितात्मा है अर्थात् समाधि के द्वारा जिसकी अनात्मवासना निर्मूल हो गयी है वह विजितात्मा है। ऐसा होकर एवं **सर्वभूतात्मभूतात्मा**—ब्रह्मा से स्तम्ब तक सभी भूतों के

(प्राणीयों की) आत्मभूत (स्वरूपभूत) हुई है आत्मा (प्रत्यग् लक्षण अपनी आत्मा) जिसको वह 'सर्वभूतात्मा' है अर्थात् 'प्राणो ही सर्वभूतैर्बिभर्ति' (यह प्राणरूप आत्मा ही सर्वप्राणियों के रूप से भासता है) 'अहमेवेदं सर्वम्' (मैं ही यह सब हूँ) ऐसे श्रुतिवाक्य के अर्थ के अनुभव तथा अपने प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा जो ब्रह्मवित् पुरुष सर्वात्मता को प्राप्त हुआ है वह कुर्वन् अपि न लिप्यते—शरीरयात्रा के लिए वैध हो या अवैध हो यत्किंचित् कर्म करता हुआ भी उस कर्म के पुण्य या अपुण्य (पाप) के द्वारा लिप्त नहीं होता है अर्थात् कर्म में उसकी अकर्मत्वदृष्टि रहने के कारण कर्मफल से वह लिप्त नहीं होता है।

शंका—'लोकसंग्रहम्' (३।२०) इत्यादि शास्त्र के द्वारा कर्तव्य के रूप से प्राप्त हुए शास्त्रीय कर्म ही इसके कर्तव्य होने के कारण 'वह केवल शरीर यात्रा के लिये कर्म करने पर भी ऐसा कहने से तो शास्त्रविरुद्ध बात आप कहते हैं।

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं। ब्रह्मविद् का कोई कर्म होना सम्भव नहीं है क्योंकि 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने अविक्रिय ब्रह्मात्मत्वविज्ञान के द्वारा उसका मिथ्याज्ञान निःशेष हो गया है। अतः उक्त ज्ञान से विपरीत ज्ञान (देहादि में आत्मज्ञान या अज्ञान) रहने से ही जो कर्मयोग अनुष्ठित होता है वह उस ब्रह्मविद् में सम्भव नहीं है, क्योंकि सम्यग् ज्ञान का मिथ्याज्ञान एवं उसके कार्य से विरोध है [अर्थात् सम्यग्ज्ञान तथा मिथ्याज्ञान (जिसके द्वारा कर्मयोगानुष्ठान होता है) दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, अतः वे एक ही पुरुष में एक ही समय में नहीं रह सकते हैं।] अधिष्ठान का ज्ञान होने पर उसका विपरीत ज्ञान एवं विपरीत ज्ञान का कर्म उत्पन्न हो नहीं सकता। स्थाणु का ज्ञान होने पर चोरज्ञान एवं उसका कार्य (भय इत्यादि) जिस प्रकार देखने में नहीं आता। उस प्रकार अपने को अप्रतिहत बुद्धि के द्वारा कूटस्थ, असंग, चिद्रूप ही जो देखता है ऐसा विद्वान का अनात्मदेहादि के साथ तादात्म्य होना ('देहादि ही मैं हूँ' इस प्रकार की भावना होना) सम्भव नहीं है। इसलिए अनात्मदेहादि में आत्मत्वाभिनिवेश के द्वारा ही जो कर्मयोग अनुष्ठित हो सकता है वह वैसा विद्वान् के लिए स्वप्न में भी सम्भव नहीं हो सकता है। (१) विधिविधान आदि सभी दृश्यों में जो मिथ्यात्व का ही दर्शन करता है उसके लिये विधेयत्व (अर्थात् ऐसा करना पड़ेगा यह विधि) सम्भव नहीं है; (२) छठवें श्लोक में योगयुक्त मुनि ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ऐसा कहकर विद्वान् के सर्वकर्मत्याग का प्रतिपादन किया गया है;

(३) गीता ५।८ श्लोक में 'पश्यन् शृण्वन्' (देखते हुए, सुनते हुए) इत्यादि विद्वान् की १३ प्रकार की क्रिया सुनने में आती हैं किन्तु वैदिक क्रिया के प्रति उक्त १३ प्रकार के करणत्व का सम्भव नहीं है अर्थात् उन १३ प्रकार की क्रिया द्वारा वैदिक कर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता है। विद्वान् का केवल आहारादि के व्यापार में देह, इन्द्रियादि की वैसी चेष्टा का सम्भव है। अतः ब्रह्मविद् जीवन्मुक्त पुरुष में विधि द्वारा नियन्त्रित कर्म के लेश का भी सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये कहा गया है कि 'तस्य कार्यं न विद्यते' अर्थात् उसका कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता है। अतः ब्रह्मविद् की शरीर यात्रा के लिए जो कर्म होता है उसके साथ शास्त्र का कोई विरोध नहीं है।

(३) नारायणी टीका—इस श्लोक में पूर्वश्लोकोक्त यथार्थ संन्यास कब होता है एवं उस ज्ञाननिष्ठारूप संन्यास की अवस्था में ब्रह्मज्ञानी का देहेन्द्रियादि प्रारम्भ के वश से कर्म करते रहने पर भी वह कर्म उसे लिप्त नहीं कर सकता है अर्थात् कर्मबन्धन में बद्ध नहीं कर सकता है, वह कहा जा रहा है। योगयुक्त होने पर (कर्मयोग में निष्ठा प्राप्त करने पर) विशुद्धात्मा होता है [रजः तथा तमः गुणरहित होकर (रागद्वेषादि से मुक्त होकर) आत्मा (अन्तःकरण) सत्त्वगुण सम्पन्न होकर विशुद्ध होती है]। इस अवस्था में योगी मनोदंडयुक्त होते हैं। अंतःकरण सात्त्विकगुणसम्पन्न होकर विशुद्ध होने पर लय तथा विक्षेपरहित होता है, अतः आत्मा अर्थात् देह चांचल्यरहित होकर योगी के द्वारा विजित (वशीभूत) रहती है। इस अवस्था में योगी विजितात्मा अर्थात् कायदंडयुक्त होते हैं। देह स्थिरता प्राप्त करने पर इन्द्रियाँ भी विक्षेपरहित होती हैं। अतः योगी की इन्द्रियाँ जित (वशीभूत) रहती हैं। इस अवस्था में योगी जितेन्द्रिय (वाग्दंडयुक्त) होते हैं। इस प्रकार जो त्रिदंडी हुए हैं उनका ही सर्वकर्मसंन्यास में अधिकार होता है अर्थात् वे ही यथार्थ संन्यासी हैं। मनु ने भी कहा है—'वाग्दंडोऽथ मनोदंडः कायदंडस्तथैव च। यस्यैते नियता दंडाः स त्रिदंडीति कथ्यते ॥' ऐसे यथार्थ संन्यासी ही 'ब्रह्म अधिगच्छति' (सर्वभूत की आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा का ऐक्य साक्षात्कार करती है)। ऐसा होने पर वे 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' होते हैं अर्थात् अपने 'अहं' शब्द के द्वारा लक्षित शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा ही सर्वभूत के आत्मभूत (सभी प्राणी की ही आत्मा है अर्थात् सर्वत्र एक ही परिपूर्ण, अखंड आत्मा विराजमान है) यह अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती है। अतः कर्म, कर्ता, करण एवं कर्मफल सभी

उनका आत्मस्वरूप होने के कारण कोई कर्म इस प्रकार के सम्यग्दर्शी को बद्ध नहीं कर सकता है। तत्त्वज्ञानी का कुछ भी कर्तव्य नहीं रह सकता है। प्रारब्ध के वश से उनका शरीर, इन्द्रियादि आहारादि के लिए कर्म करते रहने पर भी ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में सभी अकर्म हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त देहात्मबुद्धि एवं कर्तृत्वाभिमान पूर्णरूप से विनष्ट हो जाने के कारण कोई कर्मसंस्कार या कर्मफल उन्हें लिप्त नहीं कर सकता हैं।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि तत्त्ववित् कर्म करके भी उससे लिप्त नहीं होता है अर्थात् उस कर्म के द्वारा बद्ध नहीं होता है। अब उसे ही विस्तृत कर कह रहे हैं कि तत्त्वज्ञ व्यक्ति वस्तुतः (परमार्थतः) कोई कर्म ही नहीं करता है। अतः कर्म के द्वारा उसका बन्धन होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं है।]

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ॥ ८ ॥

प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९ ॥

अन्वयः—तत्त्ववित् युक्तः (सन्) पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन्, प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन् अपि इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते इति धारयन् किंचित् एव न करोमि इति मन्येत।

अनुवाद—दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, शयन, श्वास-ग्रहण, प्रलाप (कथन), विसर्ग (मलमूत्रादि त्याग) उन्मेष तथा निमेष प्रभृति कार्य करके भी समाहितचेता तत्त्वज्ञानी निश्चय करते हैं कि इन्द्रियाँ (स्वभाववश) अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हो रही हैं; अतः 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ' यह धारणा (निश्चय) कर अपने को निष्क्रिय समझते हैं।

भाष्यदीपिका—तत्त्ववित्—आत्मा के यथार्थ तत्त्व को जाननेवाले अर्थात् परमार्थदर्शी या ब्रह्मविद्। युक्तः सन्—समाहित होकर अर्थात् कूटस्थ, असंग, पूर्णात्मा में चित्त को सर्वदा युक्त रखकर बाहर के कर्म में प्रवृत्त होने पर भी यथा—

पश्यन्—देखकर, शृण्वन्—सुनकर, स्पृशन्—स्पर्श कर, जिघ्रन्—घ्राण लेकर, अश्नन्—भोजन कर, गच्छन्—गमन कर, स्वपन्—निद्राग्रहण

कर, श्वसन्—श्वासग्रहण कर, प्रलपन्—प्रलाप या बातें कहकर, विसृजन्—त्याग कर अर्थात् मलमूत्रादि परित्याग कर गृह्णन्—हस्तादि के द्वारा ग्रहणकर उन्मिषन्—आँख खोलकर, निमिषन्—आँख बन्दकर, अपि—इन कर्मों को करके भी इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ [यहाँ इन्द्रियों का अर्थ है इन्द्रिय प्रभृति चूँकि कर्मेन्द्रिय तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के कर्म के अतिरिक्त अन्तःकरण एवं दश प्राणवायु की क्रियाएँ भी यहाँ वर्णित हुए हैं।] इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियों के अर्थ में अर्थात् अपने-अपने विषयों में वर्तन्ते—प्रवृत्त हो रहे हैं इति—धारयन्—ऐसा धारण कर अर्थात् निश्चय कर, किंचित् एव न करोमि—इन्द्रियाँ कर्म करती हैं—मैं तो अविक्रिय, निष्क्रिय, एवं सभी कर्मों का नित्यसाक्षी हूँ। अतः मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ इति—इस प्रकार मन्येत—मानते हैं। ऐसा मानकर बाहर की इन्द्रियाँ प्रभृति के स्वभाव के वश से कर्म करते रहने पर भी [अर्थात् लोक दृष्टि में (अज्ञ लोगों की दृष्टि में) कर्म करते रहने पर भी] तत्त्वदर्शी पुरुष अपने को निष्क्रिय ही देखते हैं। ब्रह्मविद् पुरुष का द्वैतदर्शन नहीं हो सकता है। अतः सभी प्रकार के कार्य में (देहादि के कार्य में) तथा करण की (इन्द्रियों की) चेष्टा में वे अकर्म ही देखते हैं (गीता ४।१८) अर्थात् सभी कर्मों में वे निर्विकार आत्मा (ब्रह्म) का ही दर्शन करते हैं। इस प्रकार सम्यग्दर्शी का ही सर्वकर्मसंन्यास में अधिकार है क्योंकि उनका कोई कर्तव्य कर्म नहीं रहता है। जिस प्रकार मृगतृष्णिका में जल की भ्रान्ति कर पानी पीने के लिए उद्यत होकर बाद में उसमें जल का अभाव ज्ञात होने पर उसी में पुनः पान आदि की प्रयोजन सिद्धि के लिए कभी भी प्रवृत्ति नहीं होती है [उस प्रकार जीव तथा जगत् का मिथ्यात्व निश्चित कर जो नित्य, सत्य, निर्विकार, निष्क्रिय, चिदानंद आत्मा का साक्षात्कार किये हैं उनके लिये मिथ्या जागतिक विषय में कोई प्रयोजन नहीं रहने के कारण कर्तृत्वाभिमान के साथ किसी कर्म में ही उनकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि माया से उत्पन्न इन्द्रिय प्रभृति को अपने-अपने स्वभाव (संस्कार) के वश से मायाकृत विषयों में प्रवृत्ति देखकर बाहर के लोग देखते हैं कि तत्त्वज्ञानी का भी कर्म हो रहा है किन्तु उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की दृष्टि सदा ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही रहती है। अतः उनकी दृष्टि में कर्म, कर्म का कर्ता इत्यादि कुछ भी नहीं रहता है अर्थात् लोगों की दृष्टि में उनका कर्म होते रहने पर भी वे वस्तुतः अकर्ता ही हैं क्योंकि देहेन्द्रियादि में उनका 'मैं' या 'मेरा' ऐसा कोई अभिमान नहीं रहता है।]

टिप्पणी (१) युक्तः—इत्यादि—[कोई-कोई 'युक्तः' शब्द का ऐसा अर्थ भी किये हैं]। पहले कर्मयोग से युक्त होकर उसके बाद अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर एवं ज्ञान प्राप्त कर तत्त्ववित् 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ' ऐसा मानते हैं। अभिप्राय यह है कि निष्कामरूप से (भगवदर्पणबुद्धि से विहित कर्मों के अनुष्ठान द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त होती है एवं उसके बाद तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होने पर देहात्मबुद्धि का लोप हो जाता है एवं ज्ञानी शुद्धचैतन्य स्वरूप सत्ता को ही अपनी आत्मा मानते हैं। ऐसी अवस्था में देहेन्द्रियादि के द्वारा जो कुछ किया जाता है उसमें परमार्थदर्शी पुरुष का (तत्त्वज्ञानी का) कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहता है अर्थात् सर्वदा उसकी बुद्धि में यह निश्चय रहता है कि 'मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूँ'। अतः कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रहने के कारण कर्म या कर्मफल उन्हें लिप्त नहीं कर सकता है। इसलिए ब्रह्मसूत्र में कहा गया है "तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशादिति" अर्थात् ब्रह्म अधिगम होने पर (ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार होने पर) उस परमार्थदर्शी पुरुष का उत्तर (परवर्ती) पाप का एवं पूर्वकृत पाप का विनाश हो जाता है। [उक्तसूत्र में 'अघ' शब्द का अर्थ है पुण्य तथा पाप दोनों ही, क्योंकि दोनों ही संसारबन्धन का कारण है]।

(२) "इंद्रियाणि इंद्रियार्थेषु वर्तंते"—इस स्थान में 'इन्द्रियाणि' शब्द का अर्थ है इन्द्रिय प्रभृति अर्थात् पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, दश प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय। इनकी समष्टि को ही लिंग शरीर या जीव कहा जाता है अतः लिंग शरीर के सभी कर्म ही यहाँ संक्षेप में कहा गया है। 'पश्यन्', 'श्रृण्वन्', 'स्पृशन्', 'जिघ्रन्' तथा 'अश्नन्' ये क्रमशः आँख, कान, त्वक्, नासिका, एवं जीह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार हैं) 'गच्छन्', 'प्रलपन्' 'विसृजन्', 'गृह्णन्', ये यथाक्रम पञ्च कर्मेन्द्रियों का व्यापार हैं, यथा—पैरों का कार्य है चलना (गति), वागेन्द्रिय का कार्य है प्रलाप या कथन, पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) का कार्य है मलमुत्र त्याग एवं हाथ का कार्य है ग्रहण। 'श्वसन्' (श्वास प्रश्वास ग्रहण करना) शब्द के द्वारा प्राण आदि पचवायु का (प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान वायु के) धर्मों को (कार्यों को) सूचित किया गया है। 'उन्मिषन्' एवं 'निमिषन्' (नेत्रों का खोलना और मींचना) शब्दों से नाग, कूर्म, कृकट, देवदत्त तथा धनंजय ये प्रसिद्ध पाँचवायु के कार्य भी निर्दिष्ट किये गये हैं। 'स्वपन्' (निद्रा ग्रहण करना) शब्द के द्वारा—(उपलक्षण के द्वारा) अन्तःकरण चतुष्टय का अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त इन चारों की क्रियाएँ

उल्लिखित हुई हैं । चूँकि ब्रह्मवित् पुरुष समस्त व्यापार में ही आत्मा का अकर्तृत्व देखते हैं इसलिए ७ वें श्लोक में 'कर्म कुर्वन् अपि न लिप्यते' अर्थात् कर्म करने पर भी वे पाप पुण्य के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त ही है (मधुसूदन)

(३) श्रीधर—[पूर्वश्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मवित् पुरुष कर्म करके भी लिप्त नहीं होते हैं । यह विरुद्ध बात है ऐसी शंका हा सकती है । श्रीभगवान् इसके उत्तर में अब कह रहे हैं—नहीं, कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण तत्त्वज्ञानी के लिए यह विरुद्ध (असम्भव) नहीं है क्योंकि—] युक्तः तत्त्ववित्—कर्मयोग से युक्त व्यक्ति क्रमशः तत्त्ववित् होकर पश्यन् शृण्वन् इत्यादि—दर्शन श्रवण आदि कर्म करता हुआ भी इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु इति धारयन्—'इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं' ऐसा यह बुद्धि द्वारा निश्चय कर किंचित् न एव करोमि इति मन्येत—'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा मानता है । यहाँ दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, आहार आदि करना ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार हैं; गमन पैरों का व्यापार है; सोना (निद्रा) बुद्धि का व्यापार है; श्वास लेना प्राण का व्यापार है; प्रलपन (बोलना) वागिन्द्रिय का व्यापार है एवं विसर्ग (त्यागना) पायु का (गुदा का) तथा उपस्थ का (जननेन्द्रिय का) आनंद मूत्रत्याग व्यापार है; ग्रहण हाथ का व्यापार है; उन्मेष (आँखों को खोलना और बंद करना) कूर्माख्य प्राण का व्यापार है ऐसा समझना पड़ेगा । इन सब कार्य करने पर भी कर्तृत्वाभिमान न रहने के कारण ब्रह्मवित् कर्म में लिप्त नहीं होता है । ब्रह्मसूत्र में कहा गया है—ब्रह्म अधिगम होने पर (अर्थात् परमार्थदर्शी पुरुष का तत्त्वज्ञान होने के पश्चात्) बाद में होने वाले कर्मों का सम्बन्ध नहीं होता और पूर्वकृत पाप का विनाश हो जाता है, क्योंकि ऐसा ही श्रुति का वचन है ।

(४) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती श्लोक में योग युक्तत्व आदि विद्वान् के जो पाँच लक्षणों के बारे में कहा गया है उन पाँचों लक्षणों से विशिष्ट ब्रह्मवित् आहारादि में प्रवृत्त होने से भी दर्शनादि इन्द्रिय के व्यापारमें 'मैं कर्ता नहीं हूँ' ऐसी बुद्धि में स्थित रहते हैं अर्थात् उस प्रकार से स्थित रहना ही ब्रह्मविद् का स्वभाव है, यह अब दो श्लोकों में कह रहे हैं—

तत्त्ववित्—आत्मा का याथात्म्य (यथार्थस्वरूप) जो जानता है ऐसा ब्रह्मविद् यति युक्तः (सन्)—अपने कूटस्थत्व, असंगत्व एवं भीतर तथा बाहर पूर्णत्वदर्शनरूप प्रज्ञा के द्वारा युक्त होकर स्वयं बाहर पश्यन्—देखकर

शृण्वन्—सुनते हुए स्पृशन्—स्पर्श करते हुए जिघ्रन्—घ्राण लेते हुए अश्नन्—भक्षण करते हुए गच्छन्—चलते हुए स्वपन्—निद्रा लेते हुए श्वसन्—निःश्वास तथा उच्छ्वास लेते हुए प्रलपन्—कहते हुए विसृजन्—मल मूत्रादि त्याग करते हुए गृह्णन्—ग्रहण करते हुए उन्मिषन् निमिषन् अपि—आँख खोलते एवं बन्द करते हुए भी इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियों के अर्थ में अर्थात् शब्दादि विषयों में इन्द्रियाणि वर्तन्ते—इन्द्रियाँ व्यापार (कार्य) करती हैं न एव किंचित् करोमि इति—मैं कुछ भी नहीं करता हूँ अर्थात् मैं देखनेवाला नहीं हूँ, श्रोता नहीं हूँ, स्प्रष्टा (स्पर्श करनेवाला) नहीं हूँ, घ्राता (सुँघनेवाला) नहीं हूँ, भोक्ता नहीं हूँ, गन्ता (चलनेवाला) नहीं हूँ, ऐसी वृत्ति को धारयन्—सर्वदा धारण करते हुए उन-उन कर्मों को इन्द्रियाँ ही कर रही हैं—मैं तो अविक्रिय होने के कारण कुछ भी नहीं करता हूँ किन्तु उन क्रियाओं का साक्षी होकर निष्क्रियात्मस्वरूप से चुपचाप अवस्थान कर रहा हूँ ऐसा मन्यते—मानते हैं (अनुभव करते हैं) अर्थात् अपने को उन क्रियाओं में निष्क्रिय ही देखते हैं। अतः देह तथा इन्द्रियों के व्यापारों (कार्यों) में 'मैं तथा मेरा' ऐसी भावना का त्याग कर विद्वान् व्यक्ति को चुपचाप रहना चाहिए—यही कहने का अभिप्राय है]। इस प्रकार जो अपने को ब्रह्म के रूप में ही देखते हैं ऐसे ब्रह्मविद् यदि दुष्ट या अदुष्ट अन्न स्वीकार करें तब उससे पाप तथा पुण्य का लेप नहीं होता है—यही इन दो श्लोकों के द्वारा सिद्ध हुआ है।

(९) **नारायणी टीका**—इन दो श्लोकों का तात्पर्य पूर्वश्लोक की टीका में ही स्पष्ट किया गया है।

[तत्त्वज्ञानी कर्म करते हुए भी अकर्म ही दर्शन करते हैं—इसलिए पाप तथा पुण्यफल के द्वारा वे लिप्त नहीं होते हैं, इसे पूर्ववर्ती तीन श्लोकोंमें स्पष्टतया कहा गया है। संशय होगा—तब तुम्हारे द्वारा (भगवान् के द्वारा) अनुशासित कर्मयोग में अविद्वान् (अतत्त्वज्ञ) व्यक्ति प्रवृत्त होने पर कर्मफलों (पाप तथा पुण्य) द्वारा अवश्य ही लिप्त हो जायेंगे। ऐसा होने पर उनके लिए कर्मानुष्ठान के बाद संन्यासपूर्वक ज्ञाननिष्ठा या मोक्ष किस प्रकार सम्भव होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अन्वयः—ब्रह्मणि आधाय संगं त्यक्त्वा यः कर्माणि करोति सः अम्भसा पद्मपत्रम् इव पापेन न लिप्यते।

अनुवादः—जो पुरुष फल की आकांक्षा का त्याग कर एवं परमात्मा में सम्पूर्ण कर्मों को अर्पण कर नित्यनैमित्तिक कर्म करता है, वह जैसे कमल के पत्ते में जल का स्पर्श नहीं होता, वैसे ही पाप से लिप्त नहीं होता।

भाष्यदीपिका—ब्रह्मणि—सगुण ब्रह्म में अथवा परमेश्वर में आधाय—निक्षेप कर अर्थात् समर्पण कर। स्वामी (प्रभु) के लिए जिस प्रकार भृत्य कर्म करता है (अर्थात् भृत्य जिस प्रकार अपने लिए किसी फल की आशा न रखकर प्रभु के प्रयोजन की सिद्धि एवं प्रीति के लिए ही कर्म करता है) उस प्रकार 'मैं परमेश्वर का दास हूँ एवं उन्हीं की ही प्रीति के लिए सभी कर्म कर रहा हूँ' ऐसी भावना के द्वारा सभी कर्म परमेश्वर में समर्पण कर।

संगं त्यक्त्वा—कर्मफल यहाँ तक कि मोक्ष रूप फल की भी आसक्ति परित्याग कर अर्थात् मोक्ष के लिए भी आकांक्षा या आशा न रखकर यः—जो अविद्वान् (अर्थात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार जिसका नहीं हुआ है) एवं पूर्वोक्त कर्मयोग में जो प्रवृत्त हुआ है वह कर्माणि करोति—कर्म समूह अर्थात् लौकिक तथा वैदिक सभी कर्मों का करता हैं सः—वह कर्मयोगी अम्भसा पद्मपत्रम् इव—जल के द्वारा पद्मपत्र की तरह अर्थात् पद्मपत्र के उपर जल निक्षिप्त होने पर उस जल के द्वारा पद्मपत्र जिस प्रकार लिप्त (सिक्त) नहीं होता है अर्थात् नहीं भीगता उस प्रकार पापेन न लिप्यते—कर्म करके भी पाप के साथ (पुण्य तथा पाप के साथ) उसका कोई सम्बन्ध (संयोग) नहीं रहता है अर्थात् उसे कर्म का फल (पाप या पुण्य का फल) भाग नहीं करना पड़ता है। यहाँ पाप शब्द के द्वारा पुण्य तथा पाप दोनों को ही ग्रहण किया गया है क्योंकि पाप जिस प्रकार जन्म मृत्यु रूप संसार बन्धन का कारण हैं, पुण्य भी उस प्रकार बन्धन का कारण है। अतः पारमार्थिक दृष्टि में पुण्य भी पाप ही है। ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्म का निष्काम रूप से अनुष्ठान करने पर चित्त शुद्धि रूप फल उत्पन्न होता है। उस कर्म में या कर्मफल में आसक्ति नहीं रहने के कारण वह किसी प्रकार के बन्धन का कारण नहीं होता है। चित्तशुद्धि ज्ञान उत्पन्न कर सभी कर्मों का बीज नष्ट कर देता है, यह पहले ही कहा गया है (गीता ४।३६-३७)। अतः ऐसे कर्मयोगी के कर्मानुष्ठान के द्वारा किसी प्रकार के बन्धन की आशंका नहीं रहती है [जैसे विद्वान् पुरुष को देहात्मबुद्धि तथा कर्तृत्वाभिमान नहीं रहने के कारण किसी कर्म के फल में आसक्ति नहीं रहती है एवं देहादि के व्यापार में असंग रहने के कारण कोई कर्म उसे लिप्त (बद्ध) नहीं कर सकता है वैसा हो अविद्वान् यदि सर्वान्तर्यामी ब्रह्म में (परमेश्वर में) सर्वकर्म समर्पण

कर परमेश्वर ही सभी कर्मों के कराने वाले हैं (मैं कर्ता नहीं हूँ) ऐसी बुद्धि से कर्म करें तब पद्मपत्र कमल का पत्ता जिस प्रकार जल के द्वारा लिप्त (सिक्त गीला) नहीं होता है उसी प्रकार कर्मयोगी भी पाप तथा पुण्य कर्म के द्वारा (जो संसार गति का कारण हैं उस धर्माधर्म कर्मों के द्वारा) बद्ध नहीं होता है। (नीलकन्ठ)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तब जिसमें 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा अभिमान है उनका तो कर्मलेप दुर्वार है अर्थात् कर्म के द्वारा बन्धन तो अवश्य ही होगा। पुनः अविशुद्धचित्त होने के कारण उसका संन्यास अर्थात् सर्वकर्मत्याग भी सम्भव नहीं है। अतः अतत्त्वदर्शी पुरुष को तो महासंकट प्राप्त हो गया है ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं—]

कर्माणि—कर्मों का ब्रह्मणि—परमेश्वर में आधाय—समर्पण कर संगं त्यक्त्वा—उन कर्मों के फल में संग आसक्ति या आकांक्षा परित्याग कर यः करोति—जो करता है सः अम्भसा पद्मपत्रम् इव पापेन न लिप्यते—वह पुरुष पद्मपत्र जल में स्थित रहकर भी उस जल से जिस प्रकार लिप्त (सिक्त) नहीं होता उसी प्रकार बन्धन का हेतु होने के कारण जो पापिष्ठ (पापमय) बताये गये हैं उन पुण्य पाप रूप कर्म के द्वारा उस प्रकार कर्मानुष्ठानकारी पुरुष कभी भी लिप्त (बद्ध) नहीं होता है।

(२) शंकरानन्द—अच्छा, अपने को अविक्रिय परब्रह्म रूप से जो जानते हैं ऐसे ब्रह्मवित् महात्मा का कर्म में लेप (कर्म जनित पाप पुण्य का स्पर्श) भले ही न हो, किन्तु कर्म में प्रवृत्त अविद्वान् मुमुक्षु को तो कर्म का लेप होगा ही। अतः उसकी गति क्या होगी ? ऐसा जानने की आकांक्षा होने पर श्रीभगवान् कह रहे हैं कि जो सर्वकर्मों को मुझमें अर्पण कर कर्म करते हैं ऐसे मेरे निष्काम भक्त को भी कर्म का लेप (स्पर्श) नहीं होता है—

यः—जो अनात्मज्ञ मुमुक्षु हैं अर्थात् जिसमें मोक्ष की इच्छा हुई है किन्तु आत्मतत्त्व को अभी भी जान नहीं पाया है ऐसे जो व्यक्ति संगं त्यक्त्वा—कर्मफल में संग (आसक्ति) त्याग कर। कर्मफल की कामना को संग कहा जाता है उस संग या फल कामना का त्याग कर अर्थात् किसी समय में किसी कर्म की फल कामना न रखकर, यहाँ तक कि प्राप्त दुःख की निवृत्ति की इच्छा न कर ब्रह्मणि—ब्रह्म में सगुण परमेश्वर मुझ में कर्माणि आधाय—सभी कर्मों की स्थापना (रख) कर अर्थात् कर्तृत्व, कारयितृत्व, भोक्तृत्व, भोजयितृत्व सब कुछ मुझ में स्थापन कर अर्थात्

ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा **करोति**—श्रद्धा तथा भक्ति पूर्वक नित्यनैमित्तिक कर्म करता है **सः**—वह मेरा भक्त भी **पापेन**—संसारबन्धन का कारण है उस प्रकार पुण्य भी जन्म आदि बन्धन का कारण है। इसलिए जन्म आदि बन्धन का हेतु होने के कारण सभी वैदिक कर्म को ही पाप कहा जाता है। वैसे पाप के द्वारा। **पद्मपत्रम् अम्भसा इव**—जिस प्रकार कमल पत्र जल के द्वारा लिप्त नहीं होता है उस प्रकार मेरे भक्त कर्मों के द्वारा **न लिप्यते**—लिप्त नहीं होता है। (संसार में बद्ध नहीं होता है)

(३) **नारायणी टीका**—इस श्लोक में अतत्त्वज्ञ कर्मयोगी किस उपाय से देहेन्द्रियादि के द्वारा कर्म करते हुए भी कर्मफल के द्वारा बद्ध नहीं होते हैं वह कहा जा रहा है जो अविद्वान् कर्मयोगी कर्मफल में संग अर्थात आसक्ति (कर्म में कर्त्तृत्वाभिमान एवं कर्मफल में आकांक्षा) त्याग कर सब के हृदय में अन्तर्यामी के रूप से अवस्थित सर्वेश्वर परमात्मा को समस्त कर्म (अर्थात् कर्म का कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि सभी कारकत्व) आधान अर्थात् स्थापन (समर्पण) कर केवल परमेश्वर के हाथ में यंत्र के रूप से (उन्हीं की प्रेरणा के अनुसार एवं उन्हीं की ही तृप्ति के लिए) कर्म किये जा रहे हैं ऐसा निश्चय कर कर्म करते हैं वे संसार गति का कारण धर्माधर्मात्मक पाप रूप कर्मों के द्वारा लिप्त नहीं होते है अर्थात् कोई कर्म उसे बद्ध नहीं कर सकता हैं।

[पूर्व श्लोकोक्त कर्म के द्वारा केवल चित्तशुद्धिरूप फल की ही प्राप्ति होती है, वही अब स्पष्टरूप से कहा जा रहा है—]

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥

अन्वयः—योगिनः संगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि कर्म कुर्वन्ति।

अनुवाद—कर्मयोगी कर्मफल को आसक्ति त्याग कर चित्तशुद्धि के लिए केवल देह, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों के द्वारा कर्म का अनुष्ठान करते हैं।

भाष्यदीपिका—**योगिनः**—मुमुक्षु कर्मयोगी **संगं त्यक्त्वा**—कर्म फल की आसक्ति त्याग कर **आत्मशुद्धये**—आत्मा अर्थात् सत्त्व या चित्त, उसकी शुद्धि के लिए **कायेन**—शरीर के द्वारा **मनसा**—मन के द्वारा **बुद्ध्या**—बुद्धि के द्वारा एवं **केवलैः इन्द्रियैः अपि**—ममत्वबुद्धि शून्य

इन्द्रियों ५ ज्ञानेन्द्रियों एवं ५ कर्मेन्द्रियों के द्वारा भी। यहाँ 'केवल' शब्द का अर्थ ममत्ववर्जित अर्थात् 'मैं' एकमात्र ईश्वर के लिए ही शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म कर रहा हूँ, किसी फल प्राप्ति के लिए उस कर्म को मैं नहीं कर रहा हूँ' इस प्रकार ममत्वबुद्धि शून्य होकर इन्द्रियों के द्वारा जब कर्म होता है तब उन इन्द्रियों का 'केवल इन्द्रिय' कहा जाता है। 'केवलैः' शब्द जो 'इन्द्रियैः' शब्द का विशेषण है वह नहीं—वह कायादि पदों का भी विशेषण है अर्थात् 'केवलेन कायेन (ममत्ववर्जित देह के द्वारा) 'केवलेन मनसा' (ममत्व वर्जित मन के द्वारा) 'केवलया बुद्ध्या' (ममत्ववर्जित बुद्धि के द्वारा) इस प्रकार कायादि प्रत्येक पदों के साथ 'केवल' शब्द का अन्वय करना होगा क्योंकि कर्मयोगीको कोई फलाकांक्षा नहीं रहने के कारण देह, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का जो कुछ कार्य (व्यापार) हो सके उन सभी व्यापारों में ही योगी ममत्वबुद्धि शून्य होते हैं **कर्म कुर्वन्ति**—(इस प्रकार फलाकांक्षा रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से चित्तशुद्धि के लिए) अपने अपने आश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्मों को नियमपूर्वक श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करते हैं। चूँकि तुम्हारी अभी भी चित्तशुद्धि नहीं हुई है इस कारण तुम्हारा कर्मयोग में ही अधिकार है। अतः तुम्हें मैं कह रहा हूँ कि तुम भी (ममत्वबुद्धि शून्य एवं फलाकांक्षा रहित होकर शास्त्रविहित कर्तव्य) कर्म करो' [क्योंकि ऐसे कर्म के द्वारा केवल चित्तशुद्धि ही होती है दूसरे किसी प्रकार (अर्थात् पाप या पुण्यरूप) फल के द्वारा कर्मकर्ता लिप्त (बद्ध) नहीं होते हैं]।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में निष्काम कर्म के बन्धकत्वाभाव का प्रतिपादन कर अर्थात् निष्काम कर्म के द्वारा संसार बन्धन नहीं होता है ऐसा कहकर अब सदाचार (सत्पुरुषों के आचार) के द्वारा दिखाते हैं कि उक्त निष्काम कर्म मोक्ष की प्राप्ति का भी हेतु है।]

योगिनः आत्मशुद्धये संगं त्यक्त्वा—योगी अर्थात् कर्मयोगी जब चित्तशुद्धि के लिए संग (अर्थात् कर्म के फल में आसक्ति) का त्याग कर **कायेन**—शरीर के द्वारा अर्थात् स्नान आदि कार्य के द्वारा, **मनसा**—मन के द्वारा अर्थात् ध्यान आदि कार्य से **बुद्ध्या**—बुद्धि के द्वारा अर्थात् तत्त्वनिश्चय आदि कार्य के द्वारा एवं **केवलैः इन्द्रियैः च**—केवल अर्थात् कर्माभिनिवेश रहित [मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है, इस प्रकार के कर्म के अभिमान से रहित] इन्द्रियों के द्वारा **कर्म कुर्वन्ति**—श्रवण कीर्त्तनादि रूप कर्म करते हैं। [**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि**—इस वाक्य का विभिन्न

टीकाकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार से अर्थ किया है। श्रीधरस्वामी की टीका एवं शंकरानन्द की टीका अधिकतर सरल प्रतीत होती हैं।]

(२) शंकरानन्द—कामना रहित होकर कर्म करने से क्या लाभ होता है ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा जा रहा है कि संसाररूप दुःख का आत्यन्तिक विध्वंसकारी जो (तत्त्वज्ञान) चित्तशुद्धि से उत्पन्न होता है। वह चित्तशुद्धि ही निष्काम कर्म का फल है। अतः मुमुक्षु चित्त-शुद्धि के लिए ही विहित कर्म का अनुष्ठान निष्कामरूप से करते हैं, यह अत्र कह रहे हैं—

योगिनः—मुमुक्षु कर्मयोगी जन संगं—जिससे पुरुष कर्मफल में आसक्त होता है उसे संग कहा जाता है अर्थात् फलविषयक काम (फल कामना)। उसका त्यक्त्वा—त्याग कर अर्थात् फल की आकांक्षा सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर केवल परमेश्वर की प्रीति के लिए ही कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैः इन्द्रियैः अपि—शरीर के द्वारा, मन के द्वारा, बुद्धि के द्वारा एवं केवल इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मशुद्धये—अन्तःकरण का शोधन करने के लिए ही कर्म कुर्वन्ति—वैदिक कर्म कुर्वन्ति—नियमपूर्वक करते हैं। अथवा-जो कुछ कर्त्तव्य है उसे मन के द्वारा संकल्प कर उसी को ही बुद्धि के द्वारा निश्चित कर केवल अर्थात् रागद्वेषवर्जित इन्द्रियों के द्वारा एवं काय (शरीर) के द्वारा करते हैं। अथवा—देह तथा इन्द्रियों के द्वारा वैदिक कर्म करते हैं। बुद्धि के द्वारा निश्चित हुए हैं जो विष्णु आदि देवता उन्हीं का मन के द्वारा ध्यान, केवल अर्थात् रागद्वेष वर्जित श्रोत्र (कर्ण) के द्वारा उनका कथा श्रवण, केवल आँख के द्वारा महान पुरुषों के दर्शन, केवल वाणी के द्वारा स्वाध्यायादि एवं पैरों से तीर्थ पर्यटन आदि कर्म ईश्वर की प्रीति के लिए करते हैं।

(३) नारायणी टीका—कर्मयोग का प्रयोजन (लक्ष्य) है चित्त-शुद्धि। विषय के प्रति रागद्वेष नहीं रहना ही चित्तशुद्धि का लक्षण है। जब परमेश्वर की इच्छा के रूप में उन्हीं के यंत्र रूप देह, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों के द्वारा उन्हीं की प्रेरणा से एवं उन्हीं की प्रीति के लिए कर्म किया जाता है तब परमेश्वर ही कर्म का कर्त्ता तथा कर्मफल का भोक्ता है यह भी साथ साथ स्वीकार करना पड़ता है। तब अहंकार का अस्तित्व नहीं रहता है—कर्त्ता, भोक्ता सब परमात्मा के रूप से ही प्रतीत होते हैं एवं जो काय (देह), मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों के द्वारा कर्म निष्पन्न होता है वे भी केवल—हो जाता है

अर्थात् देह, मन, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि में (ममत्व बुद्धि अर्थात् मेरा यह बुद्धि) नष्ट हो जाती है। इस प्रकार कर्म में 'मैं' तथा 'मेरा' बुद्धि नहीं रहने के कारण राग अथवा द्वेष रहना सम्भव नहीं है। अतः ऐसे कर्म के द्वारा ही चित्तशुद्धि प्राप्त किया जाता है (एवं चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है)। अतः योगी लोग (अज्ञानी कर्मयोगी) इस प्रकार से संग का (अर्थात् कर्त्तृत्वाभिमान तथा कर्मफल में अभिलाषा का) त्याग कर परमेश्वर की प्रीति के लिए केवल अर्थात् रागद्वेष शून्य देहेन्द्रियादि के द्वारा चित्तशुद्धि के लिए कर्म करते हैं। हे अर्जुन ! तुम भी जब कर्म के ही अधिकारी हो तब तुमको भी चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञाननिष्ठा (मोक्ष) प्राप्त करने के लिए वैसा ही कर्म करना चाहिए यही भगवान के कहने का अभिप्राय है।

[निष्काम कर्मयोग से चित्तशुद्धि प्राप्त कर जो अखंडाद्वय, अविकारी परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करते हैं एवं उसमें ही स्थिति प्राप्त करते हैं ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवन यात्रा निर्वाह के लिए अथवा लोक संग्रह आदि के लिए कोई कर्म करने पर भी उस कर्म के द्वारा वह बद्ध नहीं होता है इसे ७–९ श्लोक में कहा गया है। जो लोग ज्ञाननिष्ठ होने के उद्देश्य से फलाकांक्षा शून्य होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से (अर्थात् परमेश्वर के साथ युक्त होकर) कर्मयोगानुष्ठान करते हैं, वे लोग चित्ताशुद्धिमात्र फल को प्राप्त करते हैं अर्थात् वे कर्मफल के द्वारा बद्ध नहीं होते हैं, यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। इस प्रकार के कर्मयोगी परमेश्वर की प्रीति के लिए सभी कर्मों को करता है। अतः सदा ही परमेश्वर के साथ युक्त रहने के कारण उन्हें युक्तयोगी कहा जाता है और जो लोग कर्मफल की आकांक्षा रखकर अपनी देहेन्द्रियादि की तृप्ति के लिए ही कर्म करते हैं उन्हें अयुक्त कहा जाता है। अब युक्तयोगी (निष्काम कर्मयोगी) तथा अयुक्त कर्मी की (सकाम कर्मी की) गति का भेद बताया जा रहा है ताकि अर्जुन भलीभाँति समझ सके कि फलाकांक्षा शून्य होकर कर्मानुष्ठान करना ही उसका एकमात्र कर्त्तव्य है।]

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

अन्वयः—युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा नैष्ठिकीं शान्तिम् आप्नोति, अयुक्तः कामकारेण फले सक्तः (सन्) निबध्यते।

अनुवादः—(परमेश्वर की प्रीति के लिए) जो मुमुक्षु परमेश्वर में

युक्त रहकर कर्मफल त्याग कर (अर्थात् परमेश्वर में कर्मफल अर्पण कर) अपने वर्णाश्रमविहित कर्म करते हैं वे आत्यन्तिकी शान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। किन्तु अयुक्त व्यक्ति (अर्थात् जो ईश्वर के लिए कर्म का अनुष्ठान नहीं करते हैं वे) कामनावशतः फल में आसक्त होकर बन्धन प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—युक्तः—"यह समस्त कर्तव्य कर्म केवल ईश्वर के उद्देश्य से ही अनुष्ठित हो रहा है—मेरे फल के लिए नहीं", इस प्रकार निश्चय-युक्त होकर अथवा बुद्धि को ईश्वर में समाहित रखकर **कर्मफलं त्यक्त्वा**—कर्मफल का त्याग कर जो मुमुक्षु व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करते हैं वे **नैष्ठिकीं शान्तिं**—ज्ञाननिष्ठा के फलस्वरूप मोक्षनामक शान्ति अर्थात् कर्म के द्वारा सत्त्वशुद्धि (चित्तशुद्धि), ज्ञानप्राप्ति, सर्व कर्मसंन्यास एवं ज्ञाननिष्ठा, इस प्रकार क्रम से जो मोक्षनामक परम शान्ति स्वतः ही प्रकट होती है उसे **आप्नोति**—प्राप्त करते हैं।

निष्काम कर्मयोगी की पहले चित्तशुद्धि होती है। उसके बाद नित्यानित्यवस्तु विवेक के द्वारा अनित्य जगत् का मिथ्यात्व निश्चय एवं नित्य अविकारी आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान होता है। इसे ही ज्ञानप्राप्ति कहा जाता है। ज्ञान प्राप्त करने के बाद जागतिक सभी वस्तु मिथ्या अनुभव होने के कारण तत्त्वज्ञ पुरुष के किसी कर्म की ही आवश्यकता नहीं रहती है; अतः ज्ञान प्राप्ति के बाद सर्वकर्मत्याग या मुख्य संन्यास होता है। तदनन्तर ज्ञाननिष्ठा [ज्ञान में अर्थात् सर्वप्रपंचरहित सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में ही (ब्रह्म में ही) निरन्तर स्थिति] होती है; इसके फलस्वरूप मोक्ष या परमाशान्ति (नित्य शाश्वत शान्ति) की प्राप्ति होती है। साधन की अन्तिम अवस्था में ज्ञाननिष्ठा से इस मोक्ष नामक शान्ति प्राप्त होती है इस लिए इस शान्ति को 'नैष्ठिकी' शान्ति कहा जाता है। **अयुक्तः**—किन्तु जो अयुक्त है (असमाहित) हैं अर्थात् जो परमेश्वर के उद्देश्य से कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं किन्तु स्वयं कर्म के फलभोग करने के निमित्त कर्म करते हैं एवं कर्म की सिद्धि के लिए चिन्तायुक्त होने के कारण जिनकी बुद्धि असमाहित अर्थात् अस्थिर रहती है ऐसे व्यक्ति **कामकारेण**—कामकार के द्वारा अर्थात् काम की (कामना की) प्रेरणा से। 'कार शब्द का अर्थ है करण अर्थात् जिसके द्वारा कार्य निष्पन्न होता है। वह अतः 'कामकारेण' शब्द का अर्थ है काम का करण (प्रेरणा) द्वारा। अन्तर में काम रहने पर भी यदि उसकी प्रेरणा न हो तब कोई काम्य कर्म निष्पन्न (सम्पादित) नहीं हो सकता है। अतः अयुक्त कर्मी काम (वासना) की प्रेरणा से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं एवं इस कारण—

फले सक्तः—(फल लाभ करने के लिए ही इस कर्म को मैं कर रहा हूँ इस प्रकार की बुद्धि से युक्त होने के कारण) फल में आसक्त होकर **निबध्यते**—निबद्ध होते हैं अर्थात् कर्म करके [नि = नितरां अर्थात्] अत्यधिक संसार बन्धन को प्राप्त होते हैं अर्थात् उन कर्मजनित पाप तथा पुण्य भोग करने के लिए उन लोगों को संसार में जन्म-मृत्यु के प्रवाह में भ्रमण करना पड़ता है। अभिप्राय यह है कि ऐसे सकाम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं होती है। अतः सकाम कर्मी को तत्त्वज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है एवं इस कारण ऐसे कर्मी संसार बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते हैं। अतः हे अर्जुन! तुम यदि मोक्ष प्राप्त करना चाहो तब 'युक्त' होकर कर्मानुष्ठान करो, यही यहाँ श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अच्छा, तुमने जो कर्म के सम्बन्ध में कहा उसके द्वारा कोई बद्ध होता है तथा कोई मुक्त होता है—ऐसी व्यवस्था क्यों? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] **युक्तः**—परमेश्वर में एकनिष्ठ योगी (एकमात्र परमेश्वर में स्थित हुआ योगी) **कर्मफलं त्यक्त्वा**—कर्मों के फल का त्याग कर कर्मों को करता हुआ **नैष्ठिकीं शान्तिं**—आत्यन्तिकी शान्ति (सबसे उत्कृष्ट एवं शाश्वत (सदा रहने वाली) शान्ति अर्थात् परमाशान्ति) अर्थात् मोक्ष **आप्नोति**—प्राप्त करता है। **अयुक्तः (तु)**—किन्तु जो व्यक्ति परमेश्वर के साथ युक्त नहीं है अर्थात् जो व्यक्ति बहिर्मुख (विषयाभिमुख साधन रहित) है वे **कामकारेण**—काम (कामना) के द्वारा प्रवृत्त होकर **फले सक्तः (सन्)**—कर्मफल में आसक्त होने के कारण **निबध्यते**—नि अर्थात् नितरां (अतिशय) बन्धन प्राप्त करते हैं।

(२) शंकरानन्द—श्रद्धा और भक्ति के साथ ईश्वर की ही प्रीति के लिए निष्कामभाव से जो कर्म करते हैं उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है तथा जो जैसा कर्म नहीं करते हैं उन्हें किस फल की प्राप्ति होती है, वह अब कहा जा रहा है।

यः—सदसद्विवेकी पुरुष मोक्ष की इच्छा कर **कर्मफलं त्यक्त्वा**—कर्मफल का त्याग कर अर्थात् अपने द्वारा अनुष्ठित कर्मों के फल की अपेक्षा न कर **युक्तः (भवति)**—युक्त होते हैं अर्थात् लाभालाभ एवं सिद्धि तथा असिद्धि में सम (समभावापन्न) होकर परमेश्वर की प्रीति के लिए जो कर्म करता है [योग शब्द का अर्थ है समत्वबुद्धि (गीता २।४८), अतः युक्त शब्द का अर्थ है समत्वबुद्धिसम्पन्न] **सः एव**—वह ही **नैष्ठिकीं शान्तिम्**

आप्नोति—नैष्ठिकी अर्थात् कर्मनिष्ठा से उत्पन्न हुई शान्ति अर्थात् चित्त-शुद्धि को प्राप्त होता है। अथवा—नैष्ठिकी अर्थात् कर्मनिष्ठा से उत्पन्न चित्त-शुद्धि के द्वारा जिस ज्ञान की प्राप्ति होती है उस ज्ञान के द्वारा प्रकाशित शान्ति (अर्थात् मुक्ति) को प्राप्त होता है। और जो अयुक्तः—जो अविवेकी पुरुष [निष्काम कर्मयोग से युक्त नहीं है वह] कामकारेण—कामना के द्वारा फले सक्तः—कर्मफल में आसक्त होकर अर्थात् जो उक्त लक्षणों से विशिष्ट (निष्काम) कर्म के अनुष्ठान में तत्पर नहीं होता है वह निबध्यते—विशेष-रूप से बन्धन प्राप्त होता है। उसको ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने के कारण जन्म आदि बन्धन होता है। अतः उक्तलक्षणों से विशिष्ट कर्मयोग से युक्त होओ (अर्थात् लाभ तथा अलाभ, एवं सिद्धि तथा असिद्धि में समभाव रख-कर सभी कर्तव्य कर्मों को निष्कामरूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से करते रहो)। इसके द्वारा सूचित होता है कि निष्कामरूप से किया गया कर्म मोक्ष का हेतु होता है और कामनासहित किया गया कर्म संसार बन्धन का कारण होता है।

(३) नारायणी टीका—इस श्लोक में निष्काम कर्म तथा सकाम कर्म का फलभेद दिखाया गया है। कर्म बन्धन का हेतु नहीं है—फलाकांक्षा ही बन्धन का हेतु है। जो लोग अयुक्त हैं अर्थात् कर्म करते समय परमेश्वर के साथ युक्त न होकर केवल देहेन्द्रियादि की तृप्ति के लिए 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान कर एवं काम (वासना) के द्वारा प्रेरित होकर कर्मफल में आसक्त होकर (अर्थात् फलाकांक्षा कर) कर्म करता है वह कर्म के शुभ तथा अशुभ फल के द्वारा निबद्ध होता है अर्थात् संसार गति को प्राप्त होता है। पुनः वह कर्म ही यदि परमेश्वर के साथ युक्त होकर फलाकांक्षा त्याग कर कोई करे अर्थात् भगवान की प्रीति के लिए उन्हीं का यंत्र होकर कर्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करता है तब उस निष्काम कर्म के द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि—तत्त्वज्ञान—सर्वकर्मसंन्यास—ज्ञाननिष्ठा (ब्राह्मीस्थिति) की प्राप्ति होती है। ज्ञाननिष्ठा होने से ही मोक्षरूप नैष्ठिकी शान्ति अर्थात् परमा-शान्ति की प्राप्ति होती है। आदि में निष्काम कर्म में निष्ठा एवं अन्त में ज्ञान-निष्ठा अर्थात् इन दो प्रकार की निष्ठा से मोक्षरूप निरतिशय शान्ति प्राप्त होती है इस लिए उसे नैष्ठिकी शान्ति—कहा गया है। [अथवा निष्ठा शब्द का अर्थ है दृढ़ भाव से अवलम्बन (आश्रय) करना अथवा दृढ़ श्रद्धा या अनुरक्ति। दृढ़श्रद्धा के द्वारा ही ज्ञान लाभ कर परमशान्तिरूप मोक्ष प्राप्त होना सम्भव है (गीता ६।३९) इसलिए मोक्ष को 'नैष्ठिकी शान्ति' कहा जाता है]।

[अशुद्धिचित्त व्यक्ति के संन्यास की अपेक्षा अर्थात् ज्ञान तथा वैराग्य-रहित मिथ्यासंन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग अवलम्बन करना ही अधिक प्रशस्त (कल्याण दायक) है। इसे ही पूर्ववर्ती १०–१२ श्लोकों में भगवान् ने सूचित किया। कर्मानुष्ठान कर जो शुद्धचित्त हुए हैं एवं वैराग्य तथा ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होकर परमार्थदर्शी (अर्थात् सर्वत्र एक ही आत्मा का दर्शन कर ब्रह्मनिष्ठ) हुए हैं उनके लिए स्वेच्छा से किसी कर्म का अनुष्ठान करना असम्भव है क्योंकि ऐसे ब्रह्मवित् पुरुष सभी कर्मों का परित्याग कर अविक्रिय निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप अपनी आत्मा में ही सदा अवस्थित रहते हैं, यह अब कहा जा रहा है—]

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

अन्वयः—वशी देही मनसा सर्वकर्माणि संन्यस्य नवद्वारे पुरे न एव कुर्वन् न कारयन् सुखम् आस्ते ।

अनुवाद—जितेन्द्रिय देही विवेकयुक्त मन के द्वारा सभी प्रकार के कर्मों का त्याग कर (अर्थात् कर्मों में कर्तृत्वाभिमान त्याग कर) स्वयं कोई कार्य न कर अथवा किसी के भी द्वारा कोई कर्म न कराकर नवद्वारविशिष्ट पुर की (गृह की) तरह इस देह में सुख के साथ अवस्थान करते हैं।

भाष्यदीपिका—वशी—जितेन्द्रिय। [कार्यकरण रूप संघात (देह तथा इन्द्रियादि) जिसके द्वारा वशीभूत हुआ है] अतः जिसका देहेन्द्रियादि स्वाधीन भाव से कार्य में व्यापृत (प्रवृत्त) नहीं हो सकते हैं, इस प्रकार शुद्धात्मा जितेन्द्रिय ब्रह्मवित् पुरुष देही—आत्मा को देह से भिन्न रूप से जो देखता है अर्थात् देह पर अहंकार ममकारविहीन होकर ('मैं देह हूँ तथा मेरा देह है' ऐसा अभिमान का परित्याग कर) जो देहादि का कार्य के साक्षी रूप से अवस्थान करता है उसे देही कहा जाता है। यहाँ देही शब्द का अर्थ है परमार्थदर्शी। [अज्ञ अर्थात् आत्मज्ञान वर्जित व्यक्ति का देह के साथ तादात्म्याध्यास रहता है अर्थात् अज्ञानवशतः देह को ही आत्मा मानता हैं। इसलिए अज्ञानी व्यक्ति को देह—कहा जाता है किन्तु देही नहीं कहा जा सकता है। देहरूप अधिकरण को (आधार को या आश्रय को) अज्ञ व्यक्ति आत्मा का आधार मानकर जिस प्रकार 'मैं गृह में, भूमि में अथवा आसन में उपविष्ट हूँ' उस प्रकार मैं इस देह में भी हूँ इस प्रकार देहरूप

अधिकरण से आत्मा को पृथक् कर देखने में समर्थ नहीं होता है। परन्तु जो आत्मा को देहादिरूप संघात से भिन्न (विलक्षण) देखता है उसका "मैं देह में अर्थात् देहरूप आधार में हूँ' ऐसा ज्ञान रहने के कारण उसको ही 'देही' या परमार्थदर्शी कहा जाता है। (मधुसूदन)] इस कारण से ही निष्क्रिय (क्रिया रहित) आत्मा के ऊपर जो सारे व्यापार अविद्या से आरोपित या कल्पित होता है वह ऐसे 'देही' विवेकज्ञानरूप विद्या के द्वारा (तत्त्वज्ञान के द्वारा) बाधित करता है एवं देहेन्द्रियादि ही कर्म करता है, निष्क्रिय आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व नहीं है ऐसा जानकर वह--

मनसा—मन के द्वारा अर्थात् विवेकबुद्धि के द्वारा अर्थात् कर्मादि में अकर्म सम्यक्रूप से दर्शन कर। ['कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' अर्थात् जो व्यक्ति कर्म में अकर्म देखता है इत्यादि श्लोक में (गीता ४।१८) कहे गये अकर्ता आत्मा के स्वरूप के विषय में सम्यग्ज्ञान के द्वारा (मधुसूदन) एवं आत्मामें आरोपित (कल्पित) समस्त दृश्य वस्तु के मिथ्यात्व निश्चय कर]

सर्वकर्माणि संन्यस्य—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्ध सभी कर्मों का परित्याग कर। आत्मा का अकर्तृत्व दर्शन ही प्रकृत संन्यास (कर्म-त्याग) है अर्थात् देहेन्द्रियादि स्वाभाविक कर्म करते रहने पर भी जो आत्मा को अकर्ता मानते हैं उनका ही सर्वकर्म त्याग होना सम्भव है क्योंकि वे जानते हैं कि जो कुछ कर्म किये जाते हैं वे सब प्रकृति या माया के कार्य देहादि के द्वारा ही सम्पन्न हाते हैं किन्तु आत्मा कूटस्थ, असंग, अविक्रिय, निष्क्रिय, एवं चैतन्यस्वरूप है अतः आत्मा सदा ही अकर्ता है। देहेन्द्रियादि में जबतक आत्मबुद्धि रहती है तबतक सभी कर्मों का त्याग करना असम्भव है। इसलिए कहा गया है 'मनसा सर्वकर्माणि संन्यस्य' अर्थात् विवेकबुद्धि से सभी कर्मों का त्याग कर। **नवद्वारे पुरे आस्ते**—नवद्वार विशिष्ट पुर में अर्थात् नवद्वार वाले शरीर में अवस्थान करता है। दो कान, दो आँख, दो नाक एवं एक वागिन्द्रिय (मुख) शब्दादि विषयों को उपलब्ध करने के ये सात द्वार मस्तक में (शरीर के ऊपरी भाग में) हैं और मलमूत्र का त्याग करने के लिये पायु (मलद्वार) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इन दो नीचे के अंग में हैं अर्थात् कुल नौ द्वार हैं। इन नौ द्वारों से युक्त शरीर को पुर कहा जाता है। इस पुर की भाँति पुर का (देह का) एकमात्र स्वामी आत्मा है, और आत्मा के भोग की सिद्धि के लिए ही इन सब का प्रयोजन है। अर्थात् इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि एवं उनका जो जो विषय (शब्द, स्पर्श आदि) हैं वे सभी पुरवासी की तरह आत्मा के ही भोग साधन होकर अनेक प्रकार के फल

एवं विशेष-विशेष ज्ञान उत्पन्न करता है। आत्मा इनके द्वारा युक्त होकर नवद्वार विशिष्ट पुर में (अर्थात् देह में) देही रूप से सर्वकर्म का परित्याग कर सुख से रहती है।

प्रश्न—'देहि देह में विद्यमान रहता है' ऐसे विशेषण का तात्पर्य क्या है ? संन्यासी हो या असंन्यासी हो सभी जीव ही तो देह में (शरीर में) अवस्थान करता है। अतः यहाँ ऐसा विशेषण तो व्यर्थ ही है।

उत्तर—जो अज्ञानी जीव शरीर तथा इन्द्रियों के संघातमात्र को आत्मा मानते हैं वे 'गृह में, भूमि पर अथवा आसन पर बैठे हैं' ऐसा मानते हैं [अर्थात् गृह में, भूमि में या आसन में उनका देह बैठा है, तब भी देह के साथ तादात्म्यबुद्धि कर मैं (आत्मा) गृह में अथवा भूमि या आसन पर बैठा हूँ, ऐसा भ्रम करते हैं], क्योंकि देहमात्र में आत्मबुद्धिकारी अज्ञानी व्यक्ति का गृह से पृथक् मैं जिस प्रकार गृह में बैठा हूँ उसी प्रकार शरीर से पृथक् मैं शरीर में अवस्थान कर रहा हूँ, ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं है। किन्तु देहादि संघात से आत्मा भिन्न है, ऐसा जो विवेकी पुरुष मानते हैं उनको 'मैं (शरीरी या देही) शरीर में रहता हूँ' ऐसी प्रतीति हो सकती है एवं इस कारण से निर्विशेष परमात्मा में अविद्या के द्वारा जो परकीय (आत्मा से भिन्न देहेन्द्रियादि के) कर्म सब आरोपित होता है उनका विवेक विज्ञानरूप विद्यायुक्त मन द्वारा संन्यास (त्याग) होना सम्भव होता है। [प्रश्न होगा यदि विवेकी तत्त्वज्ञानी का कोई शरीर आदि के कर्म के साथ प्रसंग न हो तब वे देह में अवस्थान क्यों करते हैं ? उत्तर में कहा जायगा—] जिसमें विवेकज्ञान उत्पन्न हुआ है एवं जो सर्वकर्मसंन्यासी हैं वे भी जो गृही के गृह में रहने की तरह नवद्वारयुक्त देह में (पुर में) देही के रूप से (निर्लिप्त होकर) अवस्थित रह सकते हैं क्योंकि जो समस्त प्रारब्ध कर्म ने फल देना शुरु कर दिया है उसके अवशिष्ट संस्कार की अनुवृत्ति चलती रहती है इसलिए 'देह में मैं हूँ', ऐसा विशेष ज्ञान होना सम्भव है। [आरब्ध देह जबतक ज्ञानी धारण करते हैं तब तक उस अवशिष्ट कर्म के संस्कार से विशेष ज्ञान की उत्पत्ति होने से भी वे (उदासीन रूप से) देह में ही अवस्थान करते हैं]। अतः ज्ञानी और अज्ञानी की प्रतीति के भेद की अपेक्षा कर कहा गया है कि "देह में ही (देही) रहता है।" अतः ऐसा विशेषण (अर्थात् विशेष रूप से निर्देश करना) युक्तियुक्त ही है [अविद्वान् (अज्ञ) लोगों में ऐसा प्रत्यय असम्भव होने पर भी विद्वान् की (तत्त्वज्ञानी की) अनुभूति को लक्ष्य करके ही वैसा कहा गया है]।

शंका—विद्वान् व्यक्ति आत्मा में अविद्या के द्वारा आरोपित कार्य (देह) कारण (इन्द्रियादि) एवं कर्म—इनका संन्यास अर्थात् परित्याग कर देह में रहते हैं, ऐसा कहा गया है, तथापि आत्मा से नित्य सम्बन्ध रखने वाले कर्तृत्व (कर्तापन) तथा कारयितृत्व (कराने की प्रेरकता) ये दोनों तो आत्मा में रहेंगे ही ? इसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं

न एव कुर्वन् न कारयन्—वे स्वयं कुछ न करते हुए एवं कार्य (देह) एवं करण (इन्द्रिय) अर्थात् देहेन्द्रियादि को कार्य में प्रवृत्त न करते हुए [अथवा किसी के भी द्वारा कुछ न करवाकर 'आस्ते' अर्थात् देह में अवस्थित रहता है, इस पद के साथ सम्बन्ध युक्त कर अर्थ करना पड़ेगा। (मधुसूदन)]

प्रश्न—जिस प्रकार गमन करने वाले की गति गमनरूप क्रिया का त्याग करने पर और नहीं रहती है, उस प्रकार आत्मा में जो कर्तृत्व और कारयितृत्व प्रतीत होते हैं वे क्या आत्मा के साथ समवायी रहकर अर्थात् नित्यसम्बन्धयुक्त रहकर भी (अर्थात् कर्तृत्व तथा कारयितृत्व आत्मा के सिद्ध होने पर भी) संन्यास के द्वारा निवृत्त हो जाते हैं ? अथवा स्वतः ही आत्मा में कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है, ऐसा समझाया जा रहा है ? [अथवा द्रुत गमन करते रहने पर भी नाव की गतिरूप क्रिया जिस प्रकार तटस्थ वृक्ष में आरोपित होती है उस प्रकार देहादि की जो क्रियाएँ आत्मा के स्वभाव पर आरोपित होती हैं वे विद्या के प्रभाव से बाधित होने पर भी आत्मा की अपनी क्रिया में अपना कर्तृत्व एवं देहादि के व्यापार आदि में आत्मा का कारयितृत्व तो हो सकते हैं ? (अभिप्राय यह है कि नैयायिक लोग इच्छा-ज्ञान आदि को आत्मा का धर्म मानते हैं। उनके मत में आत्मसमवेत—इच्छा-ज्ञानादिरूप जो क्रियाएँ हैं उन्हें आत्मा स्वयं सम्पन्न करती है। इसलिए आत्मा उनका कर्ता एवं उन इच्छाज्ञानादि के अनुसार देहादि की क्रिया (गमनादि) देहादि के द्वारा सम्पादित कराते हैं इसलिए आत्मा कारयिता भी है—ऐसा तो हो सकता है ? (मधुसूदन)] इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि देही का (आत्मा का) स्वाभाविक कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है। गीताशास्त्र में भी यह पहले ही कहा गया है 'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता २।२५) (यह आत्मा अविकारी है, ऐसा शास्त्र में कहा जाता है), 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' (गीता १३।३१) अर्थात् हे कौन्तेय ! यह आत्मा शरीर में स्थित रहने पर भी कुछ नहीं करती है एवं किसी प्रकार के पाप या पुण्य से लिप्त नहीं होती है। श्रुति में कहा गया है—'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ० उ० ४।३।४) अर्थात् आत्मा मानो ध्यान कर रही

है, मानो क्रिया कर रही है। [अब प्रश्न है निरवयव निष्क्रिय परमात्मा में कर्तृत्व तथा कारयितृत्व यदि सम्भव न हो तब 'एष एव साधु कर्म कारयति' (यह ही साधु कर्म कराती है), इत्यादि श्रुतिवाक्य जो आत्मा के कर्तृत्व तथा कारयितृत्व प्रतिपादन कर रहा है वह अप्रमाणित नहीं हो जाता है क्या ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि आत्मा की केवल सन्निधि के द्वारा ही देहेन्द्रियादि की समस्त क्रिया होना सम्भव है। जिस प्रकार सूर्य की सन्निधि में अन्धकार दूर हो जाने पर ऐसा माना जाता है कि सूर्य ने अन्धकार को दूर कर दिया है, जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि में लोहा चालित होता है और चुम्बक लोहा को चालित करता है, ऐसा माना जाता है उस प्रकार आत्मा की सन्निधिमात्र से प्रकृति कार्य कर रही है अर्थात् बुद्धि प्रभृति कार्य में प्रवृत्त हो रही है एवं वे कार्य अविक्रिय आत्मा में आरोपित होने के कारण परमात्मा करता है एवं कराता है ऐसा कहा जाता है। प्राणियों की अस्वतंत्रता सिद्ध करने के लिये एवं सोपाधिक परमात्मा की उपासना के द्वारा ताकि मुमुक्षु व्यक्ति चित्तशुद्धि प्राप्त कर सके उसके लिये श्रुति परमात्मा के कर्तृत्व तथा कारयितृत्व प्रतिपादन करती हैं। (शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य है)]

इस प्रकार अकर्ता तथा अकारयिता आत्मा नवद्वारविशिष्ट देह में सुखम् आस्ते—सुख से अर्थात् अनायास ही (विना क्लेश से) अवस्थान करती है। मन, वाणी एवं शरीर के व्यापार का (चेष्टा का) परित्याग कर परिश्रमरहित एवं प्रसन्नचित्त होकर (आत्मा से अतिरिक्त और सब बाह्य प्रयोजन से निवृत्त होकर) सुखपूर्वक स्थित रहती है अर्थात् अपने आनन्द-स्वरूप में स्थित रहती है। [आयास के कारण (क्लेश के कारण) जो काय (देह), वाक् एवं मन का व्यापार है वह वस्तुतः आत्मा में नहीं है। अतः प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से जब तक देह जीवित रहता है तब तक देही उस देह में सुख से अवस्थान करता है अर्थात् देह में रह कर भी 'कर्म देह का धर्म है एवं देही (आत्मा) अकर्ता है', यह अनुभव कर अविक्रिय, निष्क्रिय, ब्रह्मस्वरूप परमानन्द में (आत्मस्वरूप में) निमग्न रहता है—यही कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[इस प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक में अशुद्ध-चित्त के लिए संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है वह विस्तारपूर्वक कहा गया है। अब शुद्धचित्तवाले व्यक्ति के लिए संन्यास ही श्रेष्ठ है, वह कहा जा रहा है—] वशी—संयतचित्त देही—देह में विद्यमान आत्मा सर्वकर्माणि—

विक्षेपकर सभी कर्म को **मनसा**—विवेकयुक्त मन के द्वारा **संन्यस्य**—त्याग कर **नवद्वारे पुरे**—दो आँख, दो नाक, दो कान तथा एक मुख, ये सात द्वार (सिर में) एवं पायु (गुदा) एवं उपस्थ ये दो द्वार नीचे की ओर हैं; इस प्रकार जिसके नवद्वार है उस पुर में अर्थात् पुर के सदृश अहंभाव से शून्य शरीर में **नैव कुर्वन् न कारयन्**—अहंकार के अभाव के कारण स्वयं इस देह के द्वारा कुछ नहीं करता हुआ एवं ममकार का (ममता का) अभाव होने के कारण शरीर से अथवा किसी से कुछ न करवाता हुआ ही रहता है। इसके द्वारा शुद्धचित्त तथा अशुद्ध चित्तवाले व्यक्ति का पार्थक्य (भेद) बताया है। अशुद्ध चित्त पुरुष ही संन्यास कर (कर्मत्याग कर) पुनः कर्म करता है तथा करवाता है किन्तु शुद्धचित्त वशी (संयतचित्त) वैसा नहीं करता है। इसलिए वह **सुखम् आस्ते**—(ज्ञाननिष्ठ होकर) सुखपूर्वक अवस्थान करता है।

(२) **शंकरानन्द—प्रश्न**—यदि कर्मयोग से ही अकाम पुरुष की मुक्ति हो जाय तब सभी को कामना रहित होकर कर्म हो करना चाहिए—संन्यास अर्थात कर्मत्याग तो कभी भी उचित नहीं है।

समाधान—नहीं, ऐसी आशंका युक्त नहीं है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—'नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरतिक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च वासयेत्। अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।' अर्थात् नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठान से पापक्षय होता है (एवं उससे चित्त विमल होनेपर ज्ञान की उत्पत्ति होती है। ज्ञान अभ्यास के द्वारा परिपक्व होता है एवं इस प्रकार अभ्यास के द्वारा जिसका ज्ञान परिपक्व हो गया है वह कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करता है। अतः 'नित्यनैमित्तिकैरेव' इस नियम के अनुसार निष्काम रूप से किये गये कर्मों का फल चित्तशुद्धि है, चित्तशुद्धि का फल है ज्ञान एवं ज्ञान परिपक्व होने पर सर्वकर्मसंन्यास होता है एवं उसके पश्चात् सर्वदा आत्मस्वरूप से अवस्थानरूप फल की प्राप्ति होती है। अतः बहुजन्मकृत पुण्य-कर्मों के परिपाक होने पर चित्तशुद्धि होती है एवं उसी चित्तशुद्धि से जिसको पर तथा अवर का एकत्व विज्ञान (अर्थात् जोव तथा ब्रह्म का एकत्वविज्ञान) उत्पन्न हुआ है ऐसे सर्वात्मदर्शी विद्वान् के लिए किसो भी कर्म का सम्भव नहीं है, चूँकि उन्हें कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। (कारण का अभाव होने पर कार्य कैसे रह सकता है ?) अतः वह ब्रह्मविद्वर्य्य (ब्रह्म-विदों में श्रेष्ठ) पुरुष सर्वकर्म का संन्यास अर्थात् सर्व कर्म त्याग कर स्वयं अविक्रिय ब्रह्मस्वरूप से चुपचाप स्थित रहता है, ऐसा अत्र श्रीभगवान् कह

रहे हैं—वशी—नित्यनिरन्तर समाधिनिष्ठा के द्वारा सम्पूर्ण वासना समूह निर्मूलित होने पर जिसकी बाह्य इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण सुप्रसन्न होते हैं उसे अर्थात् जिसकी सर्वेन्द्रियाँ वशीकृत हो गई हैं ऐसा शुद्धात्मा ब्रह्मवित् को वशी कहा जाता है। वह **सर्वकर्माणि**—सभी कर्मों को अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रतिषिद्धरूप शास्त्रीय तथा अशास्त्रीय सभी कर्मों का **मनसा**—मन के द्वारा अर्थात् ब्रह्मरूप अधिष्ठान के यथार्थस्वरूप का सम्यक् दर्शन (साक्षात् अनुभव) होनेपर आरोपित (ब्रह्म में या आत्मा में अध्यस्त) सभी दृश्य वस्तुओं के जो मिथ्यात्व प्रत्यय (ज्ञान) उत्पन्न होता है उस मिथ्यात्व ज्ञान से युक्त मन के द्वारा **संन्यस्य**—कर्म, कर्म का कर्त्ता, कर्म का साधन एवं कर्मफल—ये सभी असत् (मिथ्या ही है), ऐसा विज्ञान से परित्याग कर। यहाँ यदि शंका हो कि 'मनसा' ऐसे वचन से प्रतीत होता है कि सभी कर्मों का त्याग मन के द्वारा ही करना पड़ेगा—बाहर की क्रिया से नहीं क्योंकि विहित कर्म का त्याग संगत नहीं है, तब कहा जायगा कि यह शंका युक्त नहीं है क्योंकि 'विकल्पो न हि वस्तु' (विकल्प वस्तु नहीं है), 'माया-मात्रमिदं द्वैतम्' (यह द्वैत मायामात्र है), इस प्रकार सभी दृश्य वस्तुओं में मिथ्यात्व देखनेवाले विद्वान् के लिए कोई विधि ही नहीं रह सकती है, क्योंकि विधि भी दृश्य में ही अन्तर्भूत है अर्थात् विधिभी दृश्य ही है (अतः मिथ्या है)। जैसे मरुभूमि के स्वरूप को जो जान गया है ऐसे पुरुष के प्रति (मरीचिका के) जलपान का विधिवचन उस जल के समान ही मिथ्या है, उस प्रकार सभी के अधिष्ठानभूत ब्रह्मस्वरूप का जिसने सम्यक्रूप से दर्शन कर लिया है उसके प्रति कर्मविधि भी कर्म के समान एवं कर्म का कारक के समान (कर्म, कर्ता, करण इत्यादि के समान) मिथ्या ही है। सभी प्रमाणों के द्वारा जिसने सभी वस्तुओं का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है (अनुभव कर लिया है) ऐसे ब्रह्मवित् के लिये कभी भी कर्म में प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है। और यदि कहो कि 'सभी कुछ मिथ्या ही है' ऐसा समझकर भी तो पुरुष कर्म में प्रवृत्त हो सकता है, तो उसके उत्तर में कहूँगा—नहीं, यह कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि कर्म में मिथ्यात्वबुद्धि तथा कर्म में प्रवृत्ति ये परस्पर विरुद्ध होने के कारण उनका एक ही अधिकरण नहीं हो सकता अर्थात् एक साथ एक ही पुरुष में इन दोनों का सम्भव नहीं है। और यदि कहो कि वह यदि भीतर में मिथ्यात्वबुद्धि तथा बाहर में सत्यत्वबुद्धि रखकर कर्म करे तो क्या हानि है? उत्तर में कहूँगा—नहीं, यह भी युक्त नहीं है क्योकि एक ही वस्तु में (एक ही कर्म व्यापार में) दो बुद्धियाँ नहीं हो सकती। मरुभूमि के

सम्बन्ध में जिसमें यथार्थ ज्ञान है उसकी (मरु में प्रतीत) जल में मिथ्यात्व-बुद्धि और उसी में सत्यत्वबुद्धि हो, ऐसा देखने में नहीं आता है। इसी प्रकार सभी वस्तु में मिथ्यात्वज्ञान एवं उसी में सत्यत्वज्ञान और उसमें प्रवृत्ति एक ही पुरुष की कभी भी नहीं हो सकती, क्योंकि किसी वस्तु में सत्यत्वबुद्धि रहने से ही उसमें पुरुष की प्रवृत्ति हो सकती है किन्तु जिसके मन में सभी दृश्य वस्तु के मिथ्यात्व प्रत्यय दृढ़ हो गया है ऐसे विद्वान् की बाहर की प्रवृत्ति कैसे होगी ? श्रुति में कहा गया है—'यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति' (जिस विषय का मन से ध्यान किया जाता है उसी को वाणी से कहा जाता है और उसको कर्मेन्द्रियों से करता है)। अतः मन का व्यापार (कार्य) रहने से ही उसके अनुसार वाणी आदि की प्रवृत्ति होती है। अतः बाहर से कर्म करना एवं मन के द्वारा कर्म का त्याग करना, यह जो तुमने कहा था उसका इससे निराकरण (खण्डन) हुआ। इसलिये सम्पूर्ण दृश्य के मिथ्यात्वनिश्चय पूर्वक सब कर्मों का मन से त्याग कर ब्रह्मविद्वर्य्य स्वयं अविक्रिय ब्रह्मस्वरूप से चुपचाप अवस्थान करता है। प्रश्न है—कहाँ अवस्थान करता है ? उत्तर में कहा जा रहा है—**नवद्वारे**—नवद्वार अर्थात् दो चक्षु, दो कान, दो नाक, एक मुख, और पायु एवं उपस्थ ये नवद्वार जो कि सूर्यादि देवताओं के द्वारा रक्षित हैं, उसे नवद्वार कहा जाता है अर्थात् प्रत्यगात्मा जिसमें एकमात्र राजा है, बुद्धि प्रधान (मंत्री) है, मन आदि सभी इन्द्रियाँ परिचारक हैं, प्राण आदि दश वायु जिसमें ग्रामपालक है, ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवताओं का जो आयतन (रहने का स्थान) है—ऐसे नवद्वार विशिष्ट **पुरे**—देह में **सुखम् आस्ते**—अपने सुख का आविर्भाव जैसे हो वैसे अवस्थान करता है अर्थात् सुख स्वरूप में ही (अपने परमानन्दस्वरूप में ही) स्थित रहता है।

प्रश्न—तुमने जो कहा कि विद्वान् देह में अवस्थान करता है यह युक्त नहीं है क्योंकि विद्वान्, अविद्वान्, यति, अर्थात् सभी देह में ही रहते हैं क्योंकि 'मैं यहीं (देह में ही) हूँ' ऐसा अनुभव (सभी का ही) होता है, ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि देहात्मबुद्धि वाले (मूढ़तम) व्यक्ति का विपरीत प्रत्यय देखने में आता है। जो केवल देहमात्र को ही आत्मा मानता है ऐसे मूढ़तम व्यक्ति का 'घर में या देहली में मैं बैठा हुआ हूँ' इस प्रकार का प्रत्यय ज्ञान होता है किन्तु ब्रह्मविद् का जैसा होता है वैसा 'मैं देह में बैठा हूँ' ऐसा प्रत्यय (ज्ञान) कभी भी नहीं होता है

ब्रह्मांड में चराचर सभी वस्तुओं को अपने तेज के द्वारा जिस प्रकार सूर्य प्रकाशित करता है उस प्रकार बुद्धि प्रभृति सम्पूर्ण अनात्मदृश्यवस्तुओं को अपने प्रकाश के द्वारा जो प्रकाश कर रहा है वह स्वप्रकाश, चिदेकरस, सर्वसाक्षी, असंग, उदासीन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवं आनन्दघन आत्मा को जो अपनी आत्मा के रूप से साक्षात् कर 'यह मैं ही हूँ' ऐसा जानता है वही देह से पृथक् आत्मा को दर्शनकारी विद्वान् गृह में देवदत्त के रहने के समान देह में निष्क्रिय ब्रह्म रूप से सुखपूर्वक स्थिर रहने में समर्थ होता हैं, दूसरा कोई समर्थ नहीं होता है। इसलिए ही भगवान् ने कहा है कि सम्पूर्ण कर्मों का मन से त्याग कर वशी सुख से नवद्वारविशिष्ट पुररूपी देह में अवस्थान करता है अथवा—श्लोक का ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है वशी—नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा जिसको सभी बाह्य तथा अन्तरिन्द्रिय वशीकृत हुई हैं ऐसा निश्चलात्मा ब्रह्मविद्वर्य (ब्रह्मवित्तम) सर्वकर्माणि—विहित, प्रतिषिद्ध एवं उनसे विलक्षण (पृथक्) देह की चेष्टारूप सभी कर्मों का मनसा —अतीत अनेक कल्प में और इस समय में सभी अवस्था में सर्वदा जो कुछ किया गया है एवं किया जा रहा है वह प्रकृति ही देहेन्द्रिय के व्यापार (क्रिया) के रूप से परिणत होकर कर रहा है—मैं तो कूटस्थ असंग चिद्रूप होने के कारण मुझसे कुछ भी नहीं किया जाता है, इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के स्वरूप के विवेकज्ञानसम्पन्न मन के द्वारा नवद्वारे पुरे देहे—स्थूल तथा पूर्य्यष्टक रूप से (स्थूल तथा सूक्ष्मरूप से) नवद्वार युक्त पुर में अर्थात पुर के सदृश होने के कारण अथवा पूर्ण होने के कारण पुर नामक देह में। यहाँ पुर या देह शब्द के द्वारा देह का कारण प्रकृति को भी उपलक्षण कर कहा गया है। अतः 'पुरे' शब्द का अर्थ कारण रूप प्रकृति में संन्यस्य—जनम मरण आदि विकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि धर्म और जाग्रतादि विशेष अवस्थाएं सभी प्रकृति की ही हैं—मेरा अर्थात् कूटस्थ, असंग, चिद्रूप, आत्मा के नहीं इस प्रकार अनात्म (देहादि में) तादात्म्यरूप अध्यास का सम्पूर्ण रूप से त्याग कर सुखम् आस्ते—स्वयं निष्कल, निष्क्रिय, नित्य शुद्ध, बुद्ध, निरन्तर, आनन्दैकरस अद्वितीय, ब्रह्म स्वरूप अपनी आत्मा में ही चुपचाप सुख से बैठता है किसी प्रकार से विकार प्राप्त नहीं होता है यहीं कहने का अभिप्राय है।

प्रश्न—जपाकुसुम की सन्निधि से स्फटिक में जैसे रक्तिमा (लाल) वर्ण दिखता है। उस प्रकार अनात्मा की (देहादि को) सन्निधि से आत्मा में अनात्मा के द्वारा किये गये सभी कर्म प्रतीत होते रहने पर भी 'प्रकृति ही

इन सब कर्मों को करती है—मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' इस प्रकार विद्या (ज्ञान) के द्वारा स्वयं ब्रह्मभाव प्राप्त करके विद्वान् स्थित रह सकता है। यह तो मैंने मान लिया, तो भी वह विद्वान् निष्क्रिय रूप से स्थित रहने में समर्थ नहीं रह सकता क्योंकि ब्रह्म के रूप से स्थित उस विद्वान् का दूसरों के द्वारा की गई क्रिया के साथ सम्बन्ध रहने पर भी वह स्वाश्रित क्रिया से युक्त हो सकता है अर्थात् अपनी आत्मा को आश्रय कर जो क्रिया होती है उसके द्वारा क्रियावान् हो सकता है। जिस प्रकार गृह के भीतर रखे हुए प्रदीप में अन्य पवनादि की चलन क्रिया के न होने पर भी उसमें अपने द्वारा की गई तैलग्रहण आदि क्रिया विद्यमान रहती है। अथवा जिस प्रकार हाथी पर आरोहण कर जो राजा चल रहा है उसमें हाथी द्वारा की गई गमन क्रिया का अभाव रहने पर भी स्वनिष्ठ (अपने में विद्यमान) चलन क्रिया एवं हाथी को चलाना आदि क्रिया राजा में विद्यमान रहती है, उस प्रकार परमात्मा में भी कर्तृत्व तथा कारयितृत्व विद्यमान रहता ही है, ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि परमात्मा निरवयव होने के कारण क्रिया का आश्रय नहीं हो सकता 'निष्कलं निष्क्रियम्' इस प्रकार श्रुति वाक्यों से परमात्मा के निरवयवत्व तथा निष्क्रियत्व सुने जाते हैं। यदि आत्मा में क्रिया विद्यमान है, ऐसा माना जाय तब आत्मा सावयव एवं अनित्य होगी। किन्तु ऐसा होने पर सभी वादियों का अनिष्ट होगा (अर्थात् किसी मतावलम्बी के लिए आत्मा अनित्य है—ऐसी युक्ति इष्ट नहीं होगी)। परन्तु आत्मा के अनित्यत्व को मानने पर सर्वश्रुति से विरोध होगा। अवयवी होने के कारण राजा में कर्तृत्वादि सम्भव होता है किन्तु आत्मा के लिए वह सम्भव नहीं है, इसे समझाने के लिए कह रहे हैं **न एव कुर्वन् न कारयन्**—निरवयव होने के कारण परमात्मा स्वयं कुछ नहीं करता है और न दूसरे को कोई कर्म में प्रवृत्त करता है अर्थात् दूसरों से कुछ नहीं कराता है। निरवयव तथा परिपूर्ण वस्तु में चलन क्रिया की कल्पना नहीं की जाती है क्योंकि वह प्रमाण विरुद्ध है अर्थात् किसी प्रमाण के द्वारा उसमें चलन क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती है जिस प्रकार निरवयव पूर्ण आकाश में चलनक्रिया का सम्भव नहीं है उस प्रकार पूर्ण आत्मा में भी कोई क्रिया का सम्भव नहीं होता है क्योंकि 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इत्यादि श्रुति वाक्यों के द्वारा आत्मा का पूर्णत्व तथा निष्क्रियत्व प्रतिपादन किया गया है।

प्रश्न—निरवयव निष्क्रिय परमात्मा में कर्तृत्व तथा कारयितृत्व दोनों असम्भव होने पर 'सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा' (महात्मा सभी का आधिपत्य

करते हैं), 'एष एव साधु कर्म कारयति' (यही साधु कर्म करता है), 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (यह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी अमृत है) इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो समस्त श्रुतियाँ आत्मा में कर्तृत्व तथा कारयितृत्व प्रतिपादन करती हैं वे सभी अप्रमाणित होंगी ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्त नहीं है क्योंकि सन्निधिमात्र से आत्मा ऐसी हो सकती है। जिस प्रकार सूर्य के सान्निध्य से अन्धकार दूरीभूत होने पर सूर्य ने अन्धकार को दूर किया है ऐसा उपचार से कहा जाता है अर्थात् अन्धकारनिवृत्ति का कर्तृत्व सूर्य में उपचारित होता है, जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि से लोहा चालित होने पर चुम्बक लोहे को चलाता है इस प्रकार लोहे का चलना चुम्बक में उपचार कहा है, उस प्रकार आत्मा के सान्निध्य में प्रकृति विस्तृत होती है (फैलती है) एवं उस विस्तारूप सर्वाधिपत्य अविकारी परमात्मा में उपचार से कहा जाता है, वैसे ही आत्मा की सन्निधि से बुद्धि आदि की प्रवृत्ति होने से 'आत्मा बुद्धि आदि को प्रवृत्त कर रही है' इस प्रकार बुद्धि आदि की प्रवृत्ति अविक्रिय आत्मा में उपचार कही जाती है कि परमात्मा करता है एवं कराता है, 'ध्यायतीव लेलायतीव' (मानों ध्यान करता है, मानों चलता है) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार आत्मा में वैसा (अर्थात् उपचारित) कर्तृत्व तथा कारयितृत्व दोनों ही सम्भव होते हैं। ऐसा अर्थ ग्रहण करके ही प्राणियों की अस्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिए परमात्मा करता है एवं कराता है, इस प्रकार श्रुतियाँ कहती हैं। जिन श्रुतियों ने परमात्मा की सृष्टि आदि क्रियाओं का प्रतिपादन किया हैं उनका प्रामाण्य उक्त रीति से ही (अर्थात् सृष्टि आदि प्रकृति को क्रिया परमात्मा में उपचार कही जाती है, इस रीति के अनुसार ही) स्वीकार करना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं', 'न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन' (न परमात्मा कुछ भोजन करता है, न तो परमात्मा को कोई भोजन करता है) इत्यादि वाक्यों के द्वारा जो समस्त श्रुतियाँ आत्मा में निर्विकारत्व प्रतिपादन करती हैं उन श्रुतियों से विरोध होगा। जिस कारण इस प्रकार परमात्मा का अविक्रियत्व अनेक श्रुतियों के द्वारा ही प्रमाणित किया गया है उस कारण आत्मा (परमार्थतः) न तो कुछ करती है और न किसी के द्वारा कुछ भी कराती है, यह सिद्ध हुआ है।

(३) नारायणी टीका—नदी के तट पर वृक्ष स्थिर दंडायमान है तब भी नाव से जो लोग जाते हैं उनकी दृष्टि में जिस प्रकार नाव की गति प्रतीत न होकर, तटस्थ वृक्षों की गति ही प्रतीत होती है उस प्रकार अज्ञानी को

प्रकृति की (स्वभाव या माया की) प्रेरणा से देहादि से किये हुए कार्यों का कर्तृत्व, कारयित्व इत्यादि स्थिर अचल निष्क्रिय आत्मा में प्रतीत होता है। वस्तुतः आत्मा कुछ भी नहीं करती है या कराती है। चैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधिवशतः जड़ प्रकृति ही (स्वभाव ही) सब कुछ करती है, आत्मा प्रकृति के कार्य का द्रष्टामात्र है। दीपक की सन्निधिवशतः वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं किन्तु उसमें जैसे दीपक का कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है उस प्रकार प्रकृति के द्वारा प्रेरित देहादि के कार्यों में भी आत्मा का कोई कर्तृत्व या कारयितृत्व नहीं है। तब भी जब तक अज्ञान रहता है एवं अज्ञानजनित देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि रहती है तब तक देहादि के कार्य को आत्मा का ही कार्य माना जाता है। इस अज्ञानदृष्टि को अवलम्बन करके ही भगवान् कहते हैं—'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्' (गीता ३।२४), 'तेषामहं समुद्धर्ता' इत्यादि (गीता १२।७)। किन्तु जो वशी अर्थात् जितेन्द्रिय होकर अपने को देही [अर्थात् देह से आत्मा को विलक्षण (पृथक्)] जान गये हैं एवं प्रवासी जिस प्रकार दूसरों के घर में रहता है उस प्रकार देह में अहंकार तथा ममकार शून्य होकर चैतन्यस्वरूप साक्षी आत्मा में ही स्थित हुए हैं उनके किसी कर्म का प्रयोजन न रहने के कारण केवल वे नित्यनैमित्तिक आदि कर्म का ही त्याग नहीं करते, परन्तु स्वभाववशतः देहादि के द्वारा जो सब कर्म किये जाते हैं उनमें भी विवेकयुक्त मन के द्वारा वे अकर्म ही दर्शन करते हैं (जिस प्रकार दूसरे के द्वारा किये हुये कर्मों में कोई उसे अपना कार्य नहीं मानता है)। अतः इस प्रकार विद्वान् के किसी कर्म में कर्तृत्वबोध नहीं रहने के कारण कोई कर्म उसको लिप्त नहीं कर सकता। अतः ब्रह्मविद् पुरुष कुछ न कर एवं किसी के भी द्वारा कुछ न कराकर नवद्वारविशिष्ट देह में अवस्थान करने पर भी सुख से अर्थात् अनायास ही अपने निर्विकल्पक, निष्क्रिय, शुद्ध, परमानन्द स्वरूप में स्थित रहता है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि आत्मा कुछ भी नहीं कराती है एवं स्वयं कुछ करती भी नहीं है। प्रश्न है—तब जीव का कर्तृत्व, जीव का कर्म तथा कर्मफल का जो भोग देखे जाते हैं वे किस के द्वारा प्रवर्त्तित होते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—]

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अन्वयः—प्रभुः लोकस्य न कर्तृत्वं न कर्माणि न कर्मफलसंयोगं सृजति, स्वभावः तु प्रवर्तते।

अनुवाद—प्रभु (आत्मा) लोगों के कर्तृत्व या कर्मसमूहों की सृष्टि नहीं करते हैं। अथवा कर्मफल के साथ ही संयोग का भी सृष्टि नहीं करते हैं। स्वभाव ही (प्रकृति या माया ही) कर्तृत्वादि के रूप से स्वयं प्रवृत्त होता है अर्थात् अविद्यालक्षण जो स्वभाव है (अर्थात् अपना भाव जिसे प्रकृति कहा जाता है) वही सब कुछ कर रहा है।

भाष्यदीपिका—प्रभुः—स्वामी अर्थात् स्वयं आत्मा लोकस्य—लोगों के अर्थात् प्राणियों के न कर्तृत्वं—कर्तृत्व (सृष्टि नहीं करता है) अर्थात् 'तुम इस कर्म को करो' ऐसा नियोग या आज्ञा के द्वारा उनका कर्तृत्व उत्पन्न नहीं करता है [अर्थात् देह का स्वामी आत्मा कारयिता नहीं होती हैं (मधुसूदन)] न कर्माणि—और न तो वह स्वयं लोगों के कर्म को सृष्टि करता है। लोग इप्सिततम (अत्यन्त वांछित) रथ, घट, प्रासाद (महल) प्रभृति के निर्माण कार्य में प्रवृत्त होता है किन्तु आत्मा उन कर्मों को भी उत्पन्न नहीं करती है (नहीं रहती है)। [एवं इस कारण से कर्म की उत्पत्ति के व्यापार में स्वयं कर्त्ता भी नहीं होती है (मधुसूदन)]।

न कर्मफलसंयोगं—जो व्यक्ति रथादि के निर्माण कार्य करता है उन कर्म के पाप पुण्यों से उत्पन्न दुःख सुख रूप फल की प्राप्ति उसको होता है किन्तु प्रभु (आत्मा) रथादि बनाने वाले के कर्म फल के साथ संयोग की भी सृष्टि नहीं करता है। [अतः प्रभुः कर्मफल का (पाप पुण्य का) स्वयं भोक्ता भी नहीं होता है अथवा भोजयिता भी नहीं होता है अर्थात् दूसरों के द्वारा कर्मफल का भोग भी नहीं कराता है (मधुसूदन)]। अब प्रश्न है कि देही (आत्मा) यदि स्वयं कुछ न करे तब यह सब कर्म कौन करता है ? एवं कौन कराता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—स्वभावः—स्वभाव (अपना भाव) अर्थात् अविद्यारूपिणी (अज्ञानात्मिका) दैवी (अर्थात् परमेश्वर की) माया या प्रकृति ही तु—किन्तु प्रवर्तते—प्रवृत्त होती है अर्थात् कर्म में प्रवृत्त होना (कर्तृत्व) एवं प्रवृत्त कराना (कारयितृत्व) दोनों ही प्रकृति का कार्य है। 'दैवी ह्येषा' इत्यादि श्लोक में (गीता ७।१४) जो गुणमयी माया के सम्बन्ध में कहा जायगा वह ही यहाँ 'स्वभाव' शब्द के द्वारा अभिहित हुआ है। [शंकरानन्द कहते हैं 'स्वयमेव सर्वं भावयतीति वा स्वभावः' अर्थात् जो स्वयं सभी प्राणी को भावना करता है अथवा स्वयं भावना कराता है उसे ही स्वभाव या प्रकृति कहा जाता है वह वासनामयी एवं कर्ममयी प्रकृति ही इष्ट

तथा अनिष्ट कर्म सम्पादन कर प्राणियों को सुख तथा दुःख अनुभव कराती है]। तत्त्वज्ञानी की दृष्टि से देह में स्थित आत्मा प्राणियों की प्रकृति, प्रकृति की चेष्टा एवं उसके सुख दुःखरूप फल केवल साक्षी रूप से विद्यमान रहकर देखती हैं एवं सदा ही अविक्रिय अवस्था में स्थित रहती हैं इस प्रकार अज्ञानी से ज्ञानी की दृष्टि की विलक्षणता प्रकाश करने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—कौषितकी ब्राह्मण में कहा गया है 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषते' अर्थात् परमेश्वर जिसे इन लोकों से ऊपर ले जाना चाहता है उसके द्वारा साधु कर्म करवाता है तथा जिसे इन लोकों से अधोलोक में लेने की इच्छा करता है उससे असाधु कर्म करवाता है। (अब प्रश्न है) यदि परमेश्वर के द्वारा ही शुभाशुभ फलप्रद कर्म के कर्ता के रूप से जीव नियुक्त होवे तब वह अस्वतंत्र (पराधीन) पुरुष (जीव) किस प्रकार से उन कर्मों का त्याग कर सकता है ? और यदि ईश्वर से ज्ञान मार्ग में प्रयुक्त होकर जीव शुभाशुभ कर्मों का त्याग करे तब उसके कर्तृत्व का प्रयोजक ईश्वर होने से ईश्वर में वैषम्य तथा नैर्घृण्य (निर्दयता) रूप दोष है ऐसा मानना पड़ेगा एवं इसलिए ईश्वर का भी पाप-पुण्य से सम्बन्ध रहेगा। ऐसी आशंका कर श्रीभगवान् कह रहे हैं—]

प्रभुः—ईश्वर **लोकस्य**—जीवों के **कर्तृत्वं**—कर्तृत्वादि की (कर्तापन आदि को अर्थात् कर्तापन, कर्म और कर्मफल के संयोग की) **न सृजति**—सृष्टि नहीं करते हैं **स्वभावः तु प्रवर्तते किन्तु**—जीव का स्वभाव जो अविद्या है (जिसे प्रवृत्ति भी कहा जाता है) वही कर्तृत्वादि के रूप में प्रवृत्त होती है। अनादि अविद्याजनित कामना के द्वारा वशीभूत हुए प्रवृत्तिस्वभाव वाले सभी जीव को ईश्वर कर्मों में नियुक्त करता है। ईश्वर स्वयं जीव में कर्तृत्वादि को उत्पन्न नहीं करता है (किन्तु उनकी चेतन सत्ता की सन्निधिमात्र से जड़ प्रकृति प्रवृत्तिस्वभावसम्पन्न लोगों के द्वारा समस्त कार्यों को करती है)।

(२) शंकरानन्द—यद्यपि निरवयव होने के कारण आत्मा क्रिया का आश्रय नहीं हो सकती है अतः आत्मा में स्वतः कर्तृत्वाभाव रहता है, तथापि जिस प्रकार चुम्बक लोहे को चलाता है उस प्रकार आत्मा में भी कारयितृत्व तो होगा ही—ऐसी आशंका यदि हो तो वह संगत नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर प्राणीमात्र का ही आत्मा की सन्निधि नित्य रहने के कारण सभी की प्रवृत्ति सर्वदा ही होती रहेगी किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता है। अतः

आत्मा में कारयितृत्व अर्थात् आत्मा दूसरों के द्वारा कर्म करवाती है, ऐसी युक्ति का कोई प्रमाण नहीं है, इस अभिप्राय से कह रहे हैं—

प्रभुः—'प्रकर्षेण स्वयमेव सर्वत्र भाति सर्वं भासयतीति वा सर्वात्मना स्वयमेव भातीति वा प्रभुः' अर्थात् जो प्रकृष्ट रूप से सर्वत्र स्वयं प्रकाशित रहता है अथवा सभी वस्तु को प्रकाशित करता है अथवा सभी के आत्म-स्वरूप से स्वयं ही प्रकाशित रहता है उसे प्रभु या आत्मा कहा जाता है। ऐसा प्रभु स्वयं **लोकस्य**—प्राणियों के **कर्तृत्वं न सृजति**—'तुम यह करो' इस प्रकार कर्म में प्रवृत्ति को उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् किसी प्राणी को कर्म में प्रवर्तित नहीं करता है। उस प्रकार **कर्माणि न सृजति**—'कर्तुरीप्सित-तमं कर्म' इस सूत्र के अनुसार क्रिया के द्वारा प्राप्त करने के लिए जो इष्टतम है उसे कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्म को भी प्रभु (आत्मा) सृजन अर्थात् उत्पन्न नहीं करता है अर्थात् क्रिया द्वारा प्राप्त होने के योग्य इष्टप्रद या अनिष्टप्रद वस्तु का सम्पादन नहीं करता है। **न कर्मफलसंयोगं (सृजति)**—कर्मफलसंयोग को भी उत्पन्न नहीं करता। प्राणी को उसके द्वारा किये गये पाप और पुण्यरूप फल से संयुक्त नहीं करता है (नहीं जोड़ता है)। अर्थात् प्राणियों को कर्म के फलस्वरूप सुख तथा दुःख का अनुभव नहीं कराता। अब प्रश्न है कि यदि प्रभु (आत्मा) कुछ नहीं कराता है; कुछ प्राप्त नहीं कराता है एवं भोग नहीं कराता है तब कौन कराता है, कौन प्राप्त कराता है एवं कौन प्राणियों के द्वारा भोग कराता है, इसके उत्तर में कहा जा रहा है—**स्वभावः तु प्रवर्तते**—जो स्वयं सभी को भावना कराता है अथवा स्वयं भावना करता है उसे स्वभाव कहा जाता है अर्थात् वासनामयी प्रकृति। वह प्रकृति ही कर्म में सब को प्रवृत्त कराती है—वह कर्मरूपिणी प्रकृति ही इष्ट तथा अनिष्ट सम्पादन कर प्राणीमात्र को सुख तथा दुःखरूप फलभोग का अनुभव कराती है। प्राणियों की अपनी आत्मा तो प्राणी की प्रकृति, उसकी चेष्टा, एवं उसके सुख तथा दुःख के अनुभव के साक्षी के रूप में ही (सदा) विद्यमान रहती है, क्योंकि वह आत्मा अविक्रिय है अर्थात् उसका किसी अवस्था में ही विकार नहीं होता है।

(३) **नारायणी टीका**—कर्तृत्व, कारयितृत्व एवं कर्मफल के साथ संयोगत्व इत्यादि जो कुछ देखे जाते हैं वे सभी स्वभाव का (प्रकृति का) कार्य हैं। अनेक जन्मार्जित वासना ही संचित हो [illegible] स्वभाव या प्रकृति के रूप में परिणत होती है। अविद्या से (अज्ञान से [illegible] का [illegible] [illegible]ना उत्पन्न होती है एवं जब तक अज्ञान रहता है तब तक ही उस[illegible] [illegible]ाव या प्रकृति के

कार्य का प्रवाह भी चलता रहता है। इसलिए जीव के स्वभाव को (प्रकृति को) अविद्यालक्षण कहा गया है। चेतन आत्मा में कर्तृत्व आदि नहीं है। स्वभाव या प्रकृति जड़ है। शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा की सन्निधि से आभास प्राप्त होकर जीव का स्वभाव चेतन के समान कार्य करता है एवं इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा ही सब कुछ कर रही है एवं सबको कर्म में प्रेरित कर रही है। किन्तु आत्मा साक्षीमात्र एवं सर्वदा ही निर्विकार तथा निष्क्रिय है। कर्तृत्व, कारयितृत्व आदि धर्मविशिष्ट स्वभाव या प्रकृति को निर्मूलित करना ही सभी साधनों के उद्देश्य हैं। ज्ञान के द्वारा अज्ञानात्मक वासना नष्ट होने से ही प्रकृति या स्वभाव भी नष्ट हो जाता है एवं तब जीव ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहकर पूर्वश्लोकोक्त 'नैव कुर्वन् न कारयन्' (न करता और न कराता है) अवस्था प्राप्त हो जाता है। स्वभावयुक्त आत्मा ही जीव है, स्वभाव या प्रकृति को वश कर स्वतंत्र होने से जीव ईश्वरत्व को प्राप्त होता है; पुनः स्वभाव या प्रकृति से पूर्णरूपेण मुक्त होने से ही ब्रह्मस्वरूपत्व प्राप्त होता है क्योंकि तब जीवत्व अर्थात् जीव का स्वभाव (प्रकृति) सर्वात्मा ब्रह्म में विलीन हो जाता है। जीवत्व तथा ईश्वरत्व दोनों ही अज्ञानात्मिका दैवी माया की ही सृष्टि है। मायातीत अद्वैत परब्रह्म में स्थित होने पर जीव, ईश्वर, जगत्, माया इत्यादि की और प्रतीति नहीं होती है एवं ऐसी स्थिति में कर्तृत्व कारयितृत्व एवं सुखदुःखरूप कर्मफल के साथ संयोग आदि कुछ भी अनुभूत नहीं होता है। इसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि आत्मा में (परमात्मा में) कर्तृत्व भोक्तृत्वादि नहीं है, वे स्वभाव या प्रकृति का कार्य होने पर भी आत्मा में अविद्या से आरोपित होते हैं। किन्तु स्मृति तथा पुराण में बार-बार कहा गया है कि जो लोग भगवान् को सर्वकर्म समर्पण कर उन्हीं के ही एकमात्र शरणापन्न होते हैं उनके प्रति अनुग्रह कर भगवान् उनकी सुकृति या दुष्कृति को ग्रहण करते हैं। अतः उन वचनों के द्वारा सिद्ध होता है कि आत्मस्वरूप भगवान् में कर्तृत्व तथा कारयितृत्व हैं। यदि ऐसा ही हो तब 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' अर्थात् स्वभाव ही प्रवृत्त होता है यह बात क्यों कहा गया है ? इसके उत्तर में अब स्पष्ट कर कह रहे हैं कि भक्तानुग्रह के व्यापार में भी परमार्थतः (वास्तविक रूप से) आत्मा के कर्तृत्व आदि नहीं है—]

नादत्ते [illegible]चित् पापं न चैव सुकृतिं विभुः ।
अज्ञानेना[illegible] ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥

अन्वयः—विभुः कस्यचित् पापं न आदत्ते, सुकृतिं च न एव। अज्ञानेन ज्ञानं आवृतम् तेन जन्तवः मुह्यन्ति।

अनुवाद—आत्मा किसी के भी पाप या पुण्य को ग्रहण नहीं करती हैं। अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत्त (आच्छन्न) रहता है। इसलिए जीवगण मोह प्राप्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—विभुः—सर्वव्यापक अर्थात् निरवयव निष्क्रिय एवं सर्वव्यापक परमेश्वररूपी आत्मा। कस्यचित्–किसी जीव का पापं न आस्ते–(परमार्थतः अर्थात् तत्त्वदृष्टि से) किसी का भी यहाँ तक की किसी भक्त का भी पाप ग्रहण नहीं करती है सुकृतिं च न एव—अथवा भक्त लोग द्वारा प्रदत्त पुण्य भी ग्रहण नहीं करती है अर्थात् भक्तों के द्वारा आत्मस्वरूप ईश्वर में समर्पित श्रौत या स्मार्त, (वेद या स्मृतिशास्त्रानुमोदित) कर्मों के अनुष्ठान से उत्पन्न पुण्य को भी, अग्नि जिस प्रकार आहुति को ग्रहण करती है उस प्रकार विभु (आत्मा) कभी ग्रहण नहीं करती है क्योंकि पारमार्थिक दृष्टि से जीव में कोई कर्तृत्व नहीं है एवं परमेश्वर में भी कोई कारयितृत्व नहीं है। अब प्रश्न है कि यदि परमात्मा पापपुण्य को ग्रहण नहीं करे तब शास्त्रज्ञ भक्त लोग कर्मफल से (पाप तथा पुण्य से) मुक्त होने के लिये पूजा, जप, होम आदि रूप कर्म क्यों उन्हें अर्पण करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि वेदान्त विचार से ज्ञान की प्राप्ति न होने के कारण ही ऐसा होता है क्योंकि अज्ञानेन—अज्ञान के द्वारा अर्थात् आवरण तथा विक्षेप ये दो प्रकार की शक्तिविशिष्ट अनिर्वचनीय माया (अज्ञान) के द्वारा ज्ञानम्—विवेकविज्ञान अर्थात् विवेकजनित विशेष ज्ञान (स्वरूपज्ञान) [जीव तथा जगत् अनित्य एवं विकारी है अतः मिथ्या है, अतः उनके सृष्टिकारी, स्थितिकारी तथा ध्वंसकारी ईश्वर भी मिथ्या हैं। अर्थात् रज्जु के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव रहने के कारण जिस प्रकार सर्प दंड आदि का भ्रम होता है उसी प्रकार अधिष्ठान सत्ता का अर्थात् परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान का अभाव रहने के कारण ही जीव, जगत् तथा ईश्वर भ्रम से प्रतीत होते हैं। सभी भ्रमों का अधिष्ठान जो नित्य, स्वयंप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, अद्वितीय (अर्थात् सजातीय एवं स्वगत भेदशून्य) परमार्थ सत्य वस्तु है (जिसे आत्मा या ब्रह्म या परमात्मा कहा जाता है) उसके स्वरूप के ज्ञान को ही यहाँ 'ज्ञान' शब्द से अभिहित किया गया है। अतः ज्ञान शब्द का अर्थ है परमात्मा। (मधुसूदन)]

आवृतम्—आच्छादित है जैसे कि राहु के द्वारा सूर्य का बिम्ब आच्छादित रहता है।

तेन—उस स्वरूप के आवरण के निमित्त ही अर्थात् ज्ञान का स्वरूप आवृत रहने के कारण ही जन्तवः—अविवेकी जननशील (अर्थात् जन्म मृत्यु रूप संसार चक्र में भ्रमणशील) जीव मुह्यन्ति—मुग्ध होते हैं अर्थात् 'मैं कर रहा हूँ' 'मैं करा रहा हूँ' 'मैं खाता (भोग कर रहा) हूँ' 'मैं खिलाता (भोग करा रहा) हूँ' ऐसे मोह को प्राप्त करते हैं। [इस कर्म के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होंगे एवं मेरे आकांक्षित फल प्रदान करेंगे, उसे मैं भोग करूँगा इत्यादि अर्थात् प्रमाता—प्रमाण—प्रमेय, कर्ता—कर्म-करण, भोक्ता—भोग्य, भोग ये नौ प्रकार के प्रसिद्ध संसार रूप मोह को प्राप्त करते हैं। 'मोहमतस्मिंस्तदवभासरूपं विक्षेपम्' अर्थात् जो जैसा नहीं है वह उस रूप से प्रतीत तथा (गृहीत) होकर जब विक्षेप की सृष्टि करता है उसका नाम है मोह। 'मुह्यन्ति' शब्द के द्वारा माया की विक्षेप—शक्ति का कार्य एवं 'ज्ञानम् आवृतं' शब्दों के द्वारा माया की आवरणशक्ति का कार्य उस श्लोक में सूचित किया गया है। मूढ़ लोग अकर्ता, अभोक्ता परमानन्द, अद्वितीय आत्मा के स्वरूप दर्शन करने में समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए उनके निकट जीव, ईश्वर तथा जगत् के सम्बन्ध में भेदरूप भ्रम प्रतीयमान होता है। अतः श्रुतिस्मृति-पुराण प्रभृति में जीव तथा ईश्वर के कर्तृत्व तथा कारयिता बोधक जितने वाक्य हैं वे सभी ही मूढ़ावस्था में जीव की जैसी प्रतीति होती है उसी का ही अनुवाद कर अर्थात् उसी प्रतीति के अनुसार कहा गया है। वे अद्वैततत्त्व-बोधक श्रुतिस्मृतिवाक्यों का ही शेषभूत (गुणीभूत) हैं अर्थात् अद्वैततत्त्व के बोध का अंगस्वरूप (उपाय) होकर सहायक होते हैं। अतः इसमें कोई दोष नहीं है। (मधुसूदन)] शंका है कि भगवान् यदि पाप-पुण्य कुछ ही न ग्रहण करें तब 'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः' अर्थात् दुष्टचित्त-वाला पुरुष भी यदि भगवान् हरि का स्मरण करे तब वे उसके सभी पापों को हर लेते हैं, 'अनेकजन्मार्जितपापसञ्चयं हरत्यशेषं स्मृतमात्र एव' अर्थात् (हरि) केवल स्मरणमात्र से ही अनेक जन्मार्जित पापों को हरण करते हैं इत्यादि शास्त्रवाक्य तब तो व्यर्थ हो जाते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह ठीक है कि श्रुतिस्मृति-पुराण आदि शास्त्रों में 'परमेश्वर कृपा करते हैं—परमेश्वर पाप हर लेते हैं' इत्यादि अनेक वाक्य मिलते हैं किन्तु उन वाक्यों का उद्देश्य अन्य प्रकार का है यथा—

(क) नाम कीर्तनादि के द्वारा पाप क्षय—ताकि अनात्मज्ञ व्यक्ति

नामकीर्तनरूप प्रायश्चित्त के द्वारा पापों से मुक्त हो सके यही उन वाक्यों का तात्पर्य है किन्तु परमात्मा के विकारित्व को प्रतिपादन करना इनका उद्देश्य नहीं है। परमात्मा भक्तों के पाप को ग्रहण करते हैं ऐसा कहने पर अविकारी परमात्मा का विकारित्व प्रमाणित होता है।

(ख) उपासना तथा शरणागति के द्वारा चित्तशुद्धि—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' (गीता १८।६१) अर्थात् जिस प्रकार सूत्रधर दारुमय (काष्ठमय) प्रतिमाको (पुत्तली को) भ्रमण कराता है (नचाता है) उस प्रकार परमेश्वर सभी प्राणी के हृदय में अवस्थित रहकर माया के द्वारा जीवों को भ्रमण कराते हैं। 'धर्मावहं पापनुदं भगेशं वरदं देवमीड्यम्' अर्थात् धर्मदाता, पापनाशक, ऐश्वर्य का भी ईश्वर, वरदानकारी, पूज्यदेव का मैं भजन करता हूँ—इत्यादि वाक्य के द्वारा परमेश्वर का कर्तृत्व, कारयितृत्व, भक्तवात्सल्य, ऐश्वर्य का ईश्वरत्व इत्यादि जो कहे गये हैं एवं श्रुति में भी जो अद्वितीयाखंड परमात्मामें उपाधि आरोपित कर परमात्मा को सत्यकाम, सत्यसंकल्प, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी इत्यादि के रूपसे वर्णन किया गया है वह तात्त्विक रूप से नहीं किया गया है किन्तु ताकि मुमुक्षु चित्तशुद्धि के लिए श्रद्धापूर्वक एवं एकान्त निर्भरता के साथ परमात्मा की उपासना कार्य में प्रवृत्त हो सके केवल उस उद्देश्य से ही किया गया है [शंकरानन्दी टीका द्रष्टव्य है]।

(ग) सगुण ब्रह्म का (ईश्वर का) ध्यान आत्मसाक्षात्कार का एक विशिष्ट उपाय है—सगुण ब्रह्म या परमात्मा का ध्यान करते-करते चित्त एकाग्र होकर सविकल्प समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है, उसके बाद अभ्यास के द्वारा निर्विकल्प समाधि से सर्वोपाधिशून्य परमात्मा का साक्षात्कार कर (परमात्मा तथा जीवात्मा का ऐक्य अनुभव कर) ज्ञाननिष्ठा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। जबतक जीव, जगत् तथा ईश्वर में भेदबुद्धिरूप भ्रम रहता है तब तक सगुण उपासना ही मोक्ष का प्रसिद्ध एवं अनिवार्य साधन होती है। इस कारण से सर्वशास्त्रों में सगुण (उपाधियुक्त) परमात्मा का विस्तृत वर्णन है एवं उनकी उपासना विहित है। अद्वैततत्त्व का ज्ञान उत्पन्न करने के लिए सगुणतत्त्व की उपासना एक अंगविशेष है। अतः साध्य-साधन निर्गुण व सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध में नानाप्रकार के विरुद्ध वाक्य श्रुति प्रभृति शास्त्रों में रहने पर भी कोई दोष (असंगति) नहीं है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[चूँकि अविद्यारूप स्वभाव (या माया) ही सभी कार्य के रूप से प्रवृत्त होता है अतः] प्रभुः—(ईश्वर) [सन्निधि-

मात्र के द्वारा] प्रयोजक होने पर भी न आदत्ते कस्यचित् पापं न च एव सुकृतं—वे किसी के भी पाप या पुण्य का ग्रहण नहीं करते हैं क्योंकि वे विभु—परिपूर्ण अर्थात् आप्तकाम (पूर्णकाम) हैं यदि वे स्वार्थसिद्धि की कामना कर जीवों से कर्म करवाते तो उक्त प्रकार से दोषी हो सकते थे किन्तु उनका कोई स्वार्थ नहीं है [इसलिए वे किसी को भी शुभाशुभ कर्म में नियोजित नहीं करते और न तो किसी का पाप या पुण्य लेते हैं]। वे आप्त-काम रहते हुए ही अपनी अचिन्त्य माया के द्वारा उन-उन जीवों के पूर्वकर्म के अनुसार उनका (धर्माधर्म कर्म में) प्रवर्तक होते हैं। प्रश्न है—अच्छा, भक्तानुग्रह एवं अभक्तों के निग्रह रूप वैषम्य की जब उनमें (ईश्वर में) उपलब्धि होती है तब वे आप्तकाम (पूर्णकाम) हैं यह कैसे माना जाय ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—अज्ञानेन ज्ञानम् आवृतम्—अज्ञान द्वारा अर्थात् 'दण्डरूप निग्रह भी अनुग्रह ही है' इस तत्त्व को न जानने के कारण 'परमेश्वर सर्वत्र सम है' यह ज्ञान आवृत रहता है तेन जन्तवः मुह्यन्ति—एवं उस कारण से जीव समुदाय मोह प्राप्त होकर भगवान् में वैषम्य मानते (देखते) हैं।

(२) शंकरानन्द—किन्तु 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (यही साधु कर्म करवाता है), 'सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः' (यही अन्तःकरण का प्रेरक है), 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' (ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है), 'सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा, (महात्मा सबका आधिपत्य करता है—अर्थात् अधिपति होता है), 'धर्मावहं पापनुदं भगेशं वरदं देवमीड्यं' (धर्मप्रदान-कारी पापनाशकारी, ऐश्वर्यों के ईश्वर, वरदानकारी पूज्य देव का मैं भजन करता हूँ) इत्यादि श्रुति तथा स्मृतिवाक्यों के द्वारा परमात्मा में कर्तृत्व, कारयितृत्व, धर्मप्रदातृत्त्व, पापनाशकर्तृत्व एवं समर्पित पूजा के द्वारा परितो-ष्टृत्वादि का प्रतिपादन किया गया है। ऐसी अवस्था में पूर्वश्लोक में 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' इत्यादि कहकर उपर्युक्त श्रुति तथा स्मृतिशास्त्रों में आत्मा के जो जो धर्म वर्णित हुए हैं उनका अभाव कैसे प्रतिपादन किया जा सकता है ? ऐसी आकांक्षा (शंका) यदि हो तो यह युक्त नहीं है क्योंकि श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के द्वारा मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के लिए एवं उनकी उपासना में जिससे प्रवृत्ति उत्पन्न हो उसके लिए आत्मा में उपाधि द्वारा किये गये धर्मों को आरोपित कर प्रतिपादन किया गया है किन्तु वे धर्म तात्त्विक दृष्टि से प्रतिपादित नहीं हुए हैं अर्थात् आत्मा के स्वरूपमें वे धर्म नहीं हैं। वस्तुतः (तात्त्विकदृष्टि से) आत्मा कूटस्थ, असंग, चिद्रूप होने के

कारण आत्मा स्वयं कुछ भी नहीं ग्रहण करती है। न कराती है, इसे ही (स्पष्ट कर) कहा जा रहा है—

विभुः—निरवयव और निष्क्रिय होने के कारण विभु अर्थात् व्यापक आत्मा स्वयं **कस्यचित्**—भक्त या अन्य किसी के भी **पापं न आदत्ते**—पाप ग्रहण नहीं करती हैं अर्थात् ब्राह्मण जिस प्रकार सुवर्ण नहीं ग्रहण करता है उस प्रकार किसी के भी पाप को नहीं लेती है। **प्रश्न है**—'हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः' (दुष्टचित्त वाला पुरुष भी यदि स्मरण करे तब भी हरि उनके पापों को हर लेते हैं), 'अनेकजन्मार्जितपापसंचयं हरत्यशेषं स्मृतमात्र एव' अर्थात् केवल स्मरण करने से ही अनेक जन्मार्जित पापराशि हरण कर लेते हैं, इत्यादि वाक्यों के द्वारा प्रतिपादित हुआ है कि भगवान् भक्तकृत पापों को ग्रहण करते हैं, ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—जो तुमने कहा वह सत्य है। ऐसा ही शास्त्र में प्रतिपादन किया गया है। भगवान् के नामकीर्त्तनरूप प्रायश्चित्त के द्वारा अनात्मज्ञ पुरुष ताकि उन पापों से मुक्त हो सके उसके लिए ही ऐसा प्रतिपादन किया गया है, परमात्मा के विकारित्व का सम्पादन करके परमात्मा उनके पापों को ग्रहण करते हैं, यह प्रतिपादन करना उन वाक्यों का उद्देश्य नहीं है। यह बात निम्नलिखित वाक्यों से भी अवगत होती है—'तस्मात्संकीर्तनं विष्णोर्जगन्मंगलमंहसाम्। महतामपि कौरव्य विध्यैकान्तिकनिष्कृतिम् ॥' 'एका विनिष्कृतिः शम्भोः सकृदेव हि कीर्तनम्।' अर्थात् इसलिए हे कौरव्य ! जगत् के मंगलरूप विष्णु के कीर्तन को महापापों की भी ऐकान्तिक (एकमात्र) निष्कृति अर्थात् प्रायश्चित्त जानो। केवल शम्भु का एकबार कीर्तन ही (सर्वपाप का) एकमात्र प्रायश्चित्त है। [यहाँ विष्णु, शम्भु शब्दके द्वारा एक ही परमात्मा को समझाया जा रहा है। कीर्तन का स्वभाव ही है पापनाशक। कीर्तन रूप कर्म के द्वारा ही कर्मजनित पाप का नाश होता है। परमात्मा किसी का पाप लेता है, ऐसा कहने का अभिप्राय नहीं है]। यदि ऐसा न हो तब परमात्मा का निर्विकारत्व प्रतिपादन करनेवाली बहुत सी श्रुतियों से विरोध का प्रसंग आवेगा। **न च एव सुकृतं** (**आदत्ते**)—किसी भक्त के अथवा दूसरे किसी के भी भक्तिपूर्वक समर्पित श्रौत, स्मार्त कर्मानुष्ठानजनित सुकृति को भी (पुण्य को भी) परमात्मा नहीं ग्रहण करते हैं अर्थात् अग्नि जिस प्रकार आहुति को ग्रहण करती है वैसा परमात्मा कुछ भी नहीं ग्रहण करता है।' यदि कहो कि 'धर्मावहं पापनुदं वरदं देवमीड्यम्' (धर्मदाता, पापनाशकारी वरदाता, पूज्य देव को), 'प्रभुः

प्रीणाति' (प्रभु चेष्टा करते हैं), 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' (पत्र, पुष्प, फल, जल) इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्यों का अप्रामाण्य उपस्थित होगा तो कहूँगा कि ऐसी शंका करना उचित नहीं है। क्योंकि जो मुमुक्षु चित्तशुद्धि प्राप्ति की इच्छा करते हैं उनके लिए परमेश्वर के महत्त्व प्रतिपादन द्वारा परमेश्वर की उपासना में रुचि उत्पन्न करना ही उन वाक्यों का तात्पर्य है। इस कारण से 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' अर्थात् वायु अति द्रुत गति से चलनेवाला देवता है इत्यादि वाक्य के समान उन वाक्यों का प्रामाण्य सिद्ध होता है। और यदि कहो कि पंडित तथा अपंडित सभी तो स्नान, संध्या, अनुष्ठान, यज्ञ, दानादि द्वारा उत्पन्न फल को ईश्वर को समर्पण करते हैं एवं ईश्वर उन फलों को ग्रहण भी करते हैं, यह कैसे सम्भव है? तो कहूँगा कि उनमें वेदान्तविचारजन्य ज्ञान न होने से ही ऐसा कहते हैं। इस अभिप्राय का प्रकाश करने के लिए श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

अज्ञानेन—आत्मा देहेन्द्रियादि से भिन्न, अविक्रिय, चिद्रूप, परिपूर्ण, अखंड, आनन्दैकरस हैं, ऐसा जानने को ज्ञान कहा जाता है। उससे विपरीत अज्ञान है। ऐसे अज्ञान के द्वारा **ज्ञानम् आवृतं**—उक्त लक्षणविशिष्ट ज्ञान आवृत (आच्छन्न) रहता है अर्थात् राहु के द्वारा सूर्यबिम्ब जिस प्रकार रहता है उस प्रकार अज्ञान के द्वारा स्वरूप ज्ञान तिरोहित होता है। **तेन**—उसके द्वारा अर्थात् परमात्मतत्त्व के अविवेक से **जन्तवः**—सभी प्राणी **मुह्यन्ति**—'मैं' 'मेरा', इस प्रकार अभिमान से वशीभूत होकर 'इस कर्म के द्वारा ईश्वर प्रसन्न होते हैं', (एवं प्रसन्न होकर) मुझे मेरी इप्सित (वांछित) वस्तु प्रदान करेंगे, मैं भोग करूँगा, (और दूसरे को) भोग कराऊँगा ऐसा मोहित हो जाते हैं अर्थात् परमात्मा का यथार्थ तत्त्व नहीं जानने के कारण संसार गति को प्राप्त होते हैं।

(३) नारायणी टीका—आत्मा कर्ता नहीं है, कारयिता नहीं है, कर्मफलों का भोक्ता नहीं है तथा कर्मफलों का भोजयिता भी नहीं है; आत्मा किसी के भी पाप या पुण्य को ग्रहण नहीं करती है क्योंकि श्रुति में कहा है—'नैनं पुण्य-पापे स्पृशतः' (तै० उ०) अर्थात् इन्हें (आत्मा को) पुण्य या पाप स्पर्श नहीं कर सकता है क्योंकि 'असंगो ह्ययमात्मा' (बृह० उ०) यह आत्मा असंग (निर्लिप्त) है। कर्ता, कर्म, करण—भोक्ता, भोग्य, भोग—जीव, जगत्, ईश्वर—पाप तथा पुण्य ये सभी ही अज्ञानात्मिका माया का कार्य हैं। अज्ञान तथा माया का प्रभाव जबतक चलता रहता है तबतक ही उसका नाटक दिखता है जिस प्रकार स्वप्न का दृश्य स्वप्न काल में ही

दिखता है अथवा जादूगर का खेल तबतक ही रहता है जबतक जादू है। अज्ञान अवस्था में ही मैं कर्ता तथा भोक्ता, ईश्वर की आराधना कर पाप-मुक्त होऊँगा, पुण्य संचय करूँगा अथवा पाप-पुण्य सभी कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर कर्मफल से मुक्त होऊँगा, ऐसी भावना जीव करता है। विभु (अर्थात् अखंडाद्वय, अविकारी निष्क्रिय आत्मा) मायातीत है, अतः माया के राज्य का कुछ भी अंश उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता है। मेघ या राहु जिस प्रकार सूर्य को आच्छादित कर स्वयं को ही प्रकट रखता है उस प्रकार अज्ञान (माया) उसके अधिष्ठान ज्ञानस्वरूप परमात्मा को आवृत्त कर उस पर जीव, जगत् तथा ईश्वर का विक्षेप कर अपने को प्रकट करता है। श्रुति में कहा गया हैं–'जीवेशौ माया करोति' (नृ० ता० उ० उ० १।९) अर्थात् जीव तथा ईश्वर दोनों ही माया की सृष्टि है। यह आवरण तथा विक्षेप ही माया की शक्ति है। सूर्य अपने स्वरूप में प्रकाशित होने पर जिस प्रकार मेघ या राहु को और देखना सम्भव नहीं होता है उस प्रकार ज्ञानोदय से अज्ञान नाश होने पर चित्-स्वरूप (ज्ञानस्वरूप) आत्मा प्रकाशित होती है एवं सर्वप्रपंच का उपशम होता है अर्थात् मिथ्या जीव, जगत् तथा ईश्वर सभी ही लुप्त हो जाते हैं। तब एक आत्मा से भिन्न दूसरी कोई द्वैत वस्तु (कर्ता, भोक्ता, पाप-पुण्य इत्यादि) नहीं रहती है। इसलिए ही श्लोक में कहा गया है कि जबतक अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत रहता है तबतक ही द्वैतरूप संसार-मोह से अविवेकी जीव मोहित रहता है। अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत रहने के कारण ही देह में आत्माभिमान होता है एवं देहात्माभिमान ही जीव को पाप–पुण्य रूप कर्मों को कराता है। देहादि में आत्मबुद्धि का त्याग होने पर जीव विभु हो जाता है अर्थात् 'मैं सर्वव्यापी अखंडाद्वय, अनन्तशक्ति पूर्ण विज्ञानानन्दघन ब्रह्म-स्वरूप हूँ' यह ज्ञान होता है। तब 'मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ' इस प्रकारका अभिमान भी उनमें नहीं रहता है। इसलिए कहा गया है कि विभु (आत्मा या शुद्ध ब्रह्म) किसी के भी देहादि से किया गया पाप या सुकृत (पुण्य) ग्रहण नहीं करता है।

[यदि सभी का ज्ञान ही अनादि अज्ञान के द्वारा आवृत रहे तो संसार की निवृत्ति (अर्थात् मुक्ति) कैसे होगी ? इसके उत्तर में कह रहे हैं--]

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—येषाम् तु तत् अज्ञानम् आत्मनः ज्ञानेन नाशितम् तेषा ज्ञानम् आदित्यवत् तत् परं प्रकाशयति ।

अनुवाद—किन्तु जिन लोगों का अज्ञान आत्मतत्त्व के ज्ञान के द्वारा विनष्ट हो गया है उन लोगों का वह ज्ञान सूर्य जैसे सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उस प्रकार परब्रह्म के स्वरूप का प्रकाश करता है ।

भाष्यदीपिका—येषाम् तु—किन्तु जिनका अर्थात् ईश्वर के लिए कर्मानुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त कर श्रवण, मनन आदि साधन सम्पत्ति से सम्पन्न हुए मुमुक्षु का यहाँ 'तु' (किन्तु) शब्द ज्ञान विना अन्य किसी उपाय के द्वारा अज्ञान नाश करना सम्भव नहीं है इसे ही सूचित करने के लिए व्यावृत्तार्थ में (ज्ञान को अन्य सब कुछ से पृथक् प्रतिपन्न करने के उद्देश्य से) व्यवहृत हुआ है । 'येषाम्' यहाँ बहुवचन रहने के कारण 'अनियम' दिखाया गया अर्थात् कब किसको ब्रह्म ज्ञान होगा उसके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, यही दिखाया गया ।

यत् अज्ञानम्—जिसके द्वारा आवृत्त होकर प्राणी मोह प्राप्त होते हैं एवं जो सभी अनर्थ का मूल कारण है, जो अनादि अनिर्वचनीय है । (अर्थात् जिसे सत् भी नहीं कहा जा सकता है एवं असत् भी नहीं कहा जा सकता है) जो स्वरूपतः मिथ्या है, जो आत्माश्रय विषय है अर्थात् जो आत्मा को आश्रय कर आत्मा को ही अपना विषय बनाता है (अर्थात् आत्मा के ही स्वरूप को आवृत करता है) एवं जो अविद्या, माया प्रभृति नामों में अभिहित है उस अज्ञान को (मधुसूदन) आत्मनः ज्ञानेन—आत्म-विषयक विवेकज्ञान के द्वारा [अर्थात् गुरुमुख से वेदान्त प्रतिपादित तत्त्व-मस्यादि महावाक्य श्रवण कर मनन तथा निदिध्यासन को परिपक्वता प्राप्त होने पर निर्मल-अन्तःकरण में जो अखंडाकार वृत्तिप्रवाह चलता रहता है उससे शोधित हुए तत् तथा त्वं पदार्थ के अर्थात् ईश्वर व जीव के अभेद (ऐक्य) ज्ञान उत्पन्न होने पर शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप अखंड एकरस वस्तुमात्र ही चित्त का विषय होता है (अर्थात् श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा शुद्धचित्त में निर्विकल्प समाधि के द्वारा सच्चिदानन्द ब्रह्म का अपनी आत्मा से अभिन्न रूप में साक्षात्कार होता है)। उसे ही आत्मज्ञान कहा जाता है, उस ज्ञान के द्वारा (मधुसूदन)] नाशितम्—विनष्ट हाता है अर्थात् बाधित होता है । [अज्ञान तीनों काल में ही असत् है । अतः उसे जब असत् के रूप से समझ जाता है तब अज्ञान एवं उसके कार्य (जीव, जगत् तथा ईश्वर)

सभी का ही मिथ्यात्व निश्चित होता है। जिस प्रकार शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होने से शुक्ति का ज्ञान होने पर रजत के मिथ्यात्व का निश्चय होता है एवं रजत उसके अधिष्ठानभूत शुक्ति के स्वरूप में ही पर्यवसित समाप्त होता है अर्थात् शुक्ति सत्ता के अतिरिक्त रजत की और कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है, उसी प्रकार ज्ञान होने से अज्ञान एवं उसके सभी कार्य उसके अधिष्ठानभूत चैतन्यस्वरूप में ही (परमात्म स्वरूप में ही) पर्यवसित होते हैं इसे 'बाधित' कहा जाता है। 'नाशितम्' शब्द का अर्थ बाधित इसलिए माना गया है कि जब तक देह रहता है तब तक अज्ञान के कार्य की (जगदादि की) प्रतीति पूर्णरूप से विनष्ट नहीं होती है किन्तु ज्ञान होने पर वह बाधित होती है अर्थात् प्रतीति होने से भी उसके सम्बन्ध में मिथ्यात्व-बुद्धि दृढ़ रहती है। (मधुसूदन)] तेषां ज्ञानम्—उन लोगों का (विवेकी लोगों का) वह ज्ञान आदित्यवत्—आदित्य के समान अर्थात् आदित्य जिस प्रकार उदय मात्र से ही निःशेष अन्धकार को दूर कर देता है एवं किसी की अपेक्षा न रखकर ही सभी रूप को प्रकाश करता है उस प्रकार ब्रह्मज्ञान जो शुद्ध बुद्धि से अर्थात् रजः तथा तमः रूप मल से रहित निर्मल बुद्धि से उत्पन्न होता है वह सर्वव्यापी प्रकाशस्वरूप होने के कारण किसी सहकारी की अपेक्षा न रखकर ही केवल अपनी उत्पत्ति से ही अज्ञान तथा अज्ञान के कार्य समुदाय को निवृत्त (दूरीभूत) कर तत्—वह अर्थात् ज्ञेय या दृश्य के रूप से जो कुछ प्रतीत होता है उन सब में जो अखण्डित रूप से विद्यमान है परं—उस परमात्मा के तत्त्व को (परमार्थ तत्त्व को) ['सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ०) अर्थात् सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप (अर्थात् देश, काल, वस्तु के द्वारा अपरिच्छिन्न) परम ब्रह्म को]। प्रकाशयति—प्रकाश करता है। [वास्तविक रूप से ज्ञान के द्वारा परमात्मा प्रकाशित या अभिव्यक्त नहीं होते हैं क्योंकि परमात्मा (जो सभी के साक्षी तथा विज्ञाता हैं वे) ज्ञान का कर्म (विषय) नहीं हो सकते हैं चूँकि वह स्वयं प्रकाश एवं अप्रमेय है (सभी प्रमाणों से बहिर्भूत है)। इसलिए ही श्रुति में कहा गया है 'विज्ञातारमेव केन विजानीयात्' अर्थात् विज्ञाता को किसके द्वारा जानोगे ? अतः अखंडाद्वितीय ब्रह्मकारा वृत्ति के द्वारा शुद्ध ब्रह्म की (परमात्मा की) प्रतिच्छाया सर्वत्र एवं सभी वस्तु में ग्रहण (उपलब्ध) करने को ही ज्ञान द्वारा परमात्मा का प्रकाश कहा जाता है (मधुसूदन)]। अन्धकार में रज्जु में जो सर्पभ्रान्ति हुई थी वह जिस प्रकार प्रकाश के साथ-साथ दूरीभूत हो जाती है एवं 'यह रज्जु ही है' ऐसा ज्ञान होता है उस

प्रकार मिथ्या जगत् प्रपंच का अधिष्ठान जो परब्रह्म हैं उनका स्वरूपज्ञान प्राप्त होने पर 'ब्रह्मैवेदं सर्वमहञ्च' अर्थात् ये सब दृश्य पदार्थ एवं मैं (अर्थात् जीव भी ब्रह्मस्वरूप ही हैं ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अभिप्राय यह है कि पहले ज्ञानलाभ करना पड़ता है अर्थात् सर्वप्रपंचरहित केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के साथ आत्मा का ऐक्य साधन कर 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा अनुभव करना पड़ता है। ज्ञान अज्ञान को नाश (द्वैत बुद्धि का नाश) कर वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा ही सब कुछ दृश्य पदार्थ के रूप से सर्वदा एवं सभी अवस्थाओं में विराजमान है इस तत्त्व का प्रकाश कर देता है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रुति में भी कहा गया है—'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति' (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् देवगणों में जो उस तत्त्व को जान गये थे वे ही उस ब्रह्म को प्राप्त हो गये हैं, ऐसा ऋषि तथा मनुष्यों में भी हुआ है और यह वर्तमान काल में भी हो रहा है। जो भी 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा तत्त्व जान गये हैं वे ही सर्वस्वरूप (ब्रह्म) हुए हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—

प्रकाशयति तत् परं—अज्ञानगत आवरण दो प्रकार का है। (१) जो आवरण सत् को, असत् का आपादन कराता है अर्थात् सत् को भी असत् प्रतीत कराता है एवं (२) जो आवरण प्रकाशमान पदार्थ की भी अप्रकाशमानता सम्पादन करता है। इसमें पहला आवरण परोक्ष हो या अपरोक्ष हो किसी साधारण ज्ञान से ही अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान आदि प्रमाण से निवृत्त हो जाता है। पर्वत में धूम देखकर आग का अनुमान करने से 'पर्वत में आग नहीं है' ऐसा जो भ्रम पहले था वह और नहीं दिखाता है अर्थात् जो भ्रान्ति वह्नि रहते हुए भी 'वह्नि नहीं है' इस प्रकार वह्नि का असत्त्व आपादन करती थी वह अनुमान प्रमाण के द्वारा ही निवृत्त हो जाती है। वह्नि का प्रत्यक्ष दर्शन (अर्थात् अपरोक्ष प्रमाज्ञान) न रहने से भी केवल अनुमान के द्वारा ही वह्नि का अस्तित्व सिद्ध होता है। पुनः रज्जुप्रभृति में जो सर्पादिभ्रम होता है वह प्रत्यक्ष के द्वारा निवृत्त होता है इस प्रकार परोक्ष या अपरोक्ष साधारण ज्ञान मात्र के द्वारा प्रथम प्रकार का आवरण (असत्त्वापादक आवरण) निवृत्त होता है। ठीक इस प्रकार से 'ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार ब्रह्म का असत्त्वापादक भ्रम 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मास्ति' (सत्य स्वरूप ज्ञानस्वरूप एवं अनन्तस्वरूप ब्रह्म हैं) इस वाक्य से जो शब्दजन्य निश्चयात्मक ज्ञान होता है उससे 'ब्रह्म

नहीं है' इत्याकारक भ्रम अवश्य निवृत्त हो जाता है अर्थात् यहाँ शब्द प्रमाण ही वैसा भ्रम का निवर्त्तक है। किन्तु 'ब्रह्म हैं किन्तु मुझमें वह प्रकाशित नहीं हो रहा है' ऐसा अभानात्मक भ्रम जिससे उत्पन्न होता है, जो अज्ञान रूप आवरण अभानता या अप्रकाशमानता सम्पादन करता है वह केवलमात्र ब्रह्म-साक्षात्कार से ही निवृत्त होता है अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान के बिना वह भ्रम निवृत्त नहीं होता है वह निर्विल्प साक्षात्कार केवलमात्र वेदान्तवाक्य से ही उत्पन्न होता है अर्थात् साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर वेदान्त महावाक्यादि गुरुमुख से श्रवण करने के पश्चात् मनन तथा निदिध्यासन (निर्विकल्प समाधि) द्वारा ही ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है, यह हो कहने का अभिप्राय है।

(२) श्रीधर—[ज्ञानीजन मोह प्राप्त नहीं होते है, यही अत्र कह रहे हैं—] येषां तु आत्मनः ज्ञानेन तद् अज्ञानं नाशितम्—आत्मस्वरूप भगवान् के यथार्थ ज्ञान द्वारा जिसके उस वैषम्यबोधक भेद बुद्धि उत्पादन करने वाला अज्ञान का नाश हो जाता है तेषां ज्ञानम् आदित्यवत तत् परं प्रकाशयति—उनका वह (सूर्य के समान प्रकाशमान) ज्ञान 'तत् परं' अर्थात् परिपूर्ण ईश्वर के स्वरूप को प्रकाश करता है अर्थात् जिस प्रकार आदित्य (सूर्य) तमः (अन्धकार को) निरास कर (दूर कर) निखिल वस्तु को प्रकाश करता है उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान का नाश करके परिपूर्ण ईश्वररूप को (परमार्थतत्त्व को) प्रकाशित करदेता है।

(३)शंकरानन्द—अच्छा, सभी का ज्ञान यदि अज्ञान के द्वारा आवृत रहे तब मुमुक्षुओं में आत्मज्ञान का आविर्भाव कैसे होगा एवं उनकी मुक्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहा जायगा कि ईश्वर की प्रीति के लिए नित्य-नैमित्तिक कर्मानुष्ठान सम्पादित होने पर जब चित्त का परिपाक अर्थात् चित्त की शुद्धि उत्पन्न होती है तब सम्यक् ज्ञान उदित होकर अज्ञान का नाश कर परमतत्त्व को (आत्मा के यथार्थ स्वरूप को) प्रकाशित करता है। उसी अवस्था में मुमुक्षु को मुक्ति प्राप्त होती है ! इस अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं—

येषां ज्ञानेन तु-'तु' शब्द ज्ञान भिन्न अन्य कोई उपाय से अज्ञान का नाश नहीं हो सकता है इसे सूचित करने के लिये प्रयुक्त हुआ है। कर्म तथा उपासना के द्वारा जिनका चित्त परिपक्व (शुद्ध) हुआ है और वेदान्तवाक्यों के श्रवणादि से जिसमें आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न हुआ है एवं उस ज्ञान के द्वारा जिनका आत्मनः-आत्मा का यानी बुद्धि का सम्बन्धी (बुद्धिनिष्ठ अर्थात् बुद्धि में

स्थित) तत् अज्ञानं—वह अज्ञान [ज्ञान और अज्ञान दोनों ही बुद्धि का धर्म है। जिस प्रकार पटल से (मोतिया से अर्थात् Cataract के द्वारा) आवरण तथा अनावरण चक्षु में ही होता है, घट में नहीं होता है, उसी प्रकार ज्ञान तथा अज्ञान बुद्धि के ही धर्म है—आत्मा का नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो 'अहम्' अर्थात् (मैं) इस प्रत्यय की (ज्ञान की) विद्यमानता सम्भव नहीं होती। [आत्मा यदि अज्ञान के द्वारा आवृत्त होता तब 'मैं' यह बोध नहीं रह सकता था किन्तु 'मैं हूँ' यह बोध सदा ही रहता है—कभी लुप्त नहीं होता है।] अतः बुद्धि सम्बन्धी ही वह अज्ञान है अर्थात् बुद्धिनिष्ठ होकर ही वह अज्ञान रहता है (इस लिए कहा गया है 'आत्मनः तदज्ञानम्')। इस अज्ञान से मोहित होकर ही प्राणी संसारचक्र में भ्रमण करता है एवं यह अज्ञान ही सभी अनर्थों का बीज है वह अज्ञान नाशितम्—नष्ट हो जाता है। सूर्य का उदय होने पर जैसे अन्धकार विध्वस्त (नष्ट) हो जाता है वैसे ही जिनके ज्ञान के द्वारा अज्ञान नष्ट हो गया है तेषाम् आदित्यवद् ज्ञानं—उनका अर्थात् उन शुद्धात्मा में समुत्पन्न हुआ वह ज्ञान आदित्य के समान अर्थात् जिस प्रकार आदित्य (सूर्य) उदित होने पर सभी पदार्थ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार उनका वह ज्ञान तत्परं प्रकाशयति—तत् अर्थात् सर्ववेदान्तों में प्रसिद्ध उस सत्यज्ञानादि लक्षण प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परब्रह्म को प्रकाश करता है। सूर्य के प्रकाश के द्वारा जिस प्रकार 'यह स्थाणु ही है, चोर नहीं' ऐसा स्पष्टरूप से विदित होता है उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश होने पर वे लोग 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार अपने को ब्रह्म ही जानता है।

(४) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत्त रहने के कारण जन्तुसमुदाय (सभी प्राणी) मोह प्राप्त होते हैं। अब प्रश्न है कि अनादि अज्ञान के द्वारा यदि ज्ञान आवृत्त रहे तब उस ज्ञान का प्रकाश कैसे होगा एवं वह प्रकाशित होकर परमतत्त्व को (परमात्मा को) कैसे प्रकाशित करेगा ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि जिनके आत्मविषयक ज्ञान के द्वारा आत्मा के आवरक अज्ञान का नाश होता है उनका वह ज्ञान सूर्य जिस प्रकार समस्त रूप को प्रकाश करता है उसी प्रकार उस परमात्मतत्त्व को प्रकाशित करता है। आत्मविषयक ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? अपने-अपने आश्रमोचित कर्म भगवान् के (परमात्मा के) दास के रूप से फलाकांक्षा तथा कर्तृत्वाभिमान रहित होकर भगवान् में ही अर्पण करना पड़ेगा ऐसा दृढ़ निश्चय कर कर्मका अनुष्ठान करते रहने पर योगी रागद्वेषहीन होकर चित्तशुद्धि

प्राप्त करता है। उसके बाद आत्मस्वरूप को जानने की इच्छा कर गुरूपसदन (गुरु के निकट श्रद्धा के साथ गमन), गुरुमुख से वेदान्तमहावाक्यादि का श्रवण एवं उसके पश्चात् उसका अर्थ मनन कर निदिध्यासन के द्वारा (आत्मसंस्थ योग के द्वारा) आत्मा का साक्षात्कार करते हैं अर्थात् 'मैं देहादि दृश्य पदार्थ नहीं हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव करते हैं। ऐसा अनुभव होने पर देहादि में आत्मबुद्धि ('मैं' ऐसा अभिमान) सम्पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। इस आत्मस्वरूप के ज्ञान को परमार्थ (यथार्थ) ज्ञान कहा जाता है। अपने स्वरूप को जानना ही ज्ञान—है एवं वह न जानना ही अज्ञान है। आत्मा का स्वरूप विस्मृत होकर भ्रान्ति (अज्ञान) वशतः अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धि करके ही स्वभावतः नित्य शुद्ध मुक्त पुरुष जीवत्व स्वीकार कर संसार चक्र में भ्रमण करता रहता है एवं स्वप्न दृश्य के समान जाग्रतावस्था में सभी विषय प्रपंच की कल्पना से सृष्टि कर सुख दुःख भोग करता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय होने पर तमः (अन्धकार) नहीं रह सकता है उसी प्रकार यह आत्मस्वरूप का ज्ञान अज्ञान को (देहात्मबुद्धि एवं उसके कार्य को) नाश कर देता है तब योगी ब्रह्म के साथ एक होकर अपने स्वरूप में अवस्थान करते हैं। इस अवस्था में वह ज्ञान सूर्य के समान सर्वप्रकाशक होता है अर्थात् सूर्य जैसे दूसरे किसी ज्योति की (प्रकाश की) अपेक्षा न कर अपने को (एवं बाहर की सभी वस्तु को) प्रकाश करता है उसी प्रकार वह ज्ञान अर्थात् ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व बोध रूप ज्ञान (आत्मव्यतिरिक्त सभी वस्तुओं का अस्तित्व लोप हो जाने के कारण) अपने ही अपने परमतत्त्व को (अखंडाद्वय सच्चिदानन्द-स्वरूप पारमार्थिक सत्ता को) प्रकाशित करता है। अथवा 'परं तत्' को जो सबसे पर या श्रेष्ठ है, उसे प्रकाशित करता है त्वं पदार्थ को शोधन कर 'मैं वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूँ' यह अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञान तथा उसका कार्य निःशेष नष्ट हो जाते हैं एवं 'त्वं' तथा 'तत्' (शुद्ध जीवात्मा तथा परमात्मा) तब एक होकर एकमात्र 'परं तत्' पदार्थ ही परम सत्य वस्तु सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। आत्मा का धर्म ही है प्रकाश करना परम तत्त्व को जान लेने पर दृश्य पदार्थ मात्र में मिथ्यात्व ज्ञान दृढ़ होता है अतः दूसरी कोई प्रकाश वस्तु नहीं रहने के कारण आत्मा उस अवस्था में स्वयं अपने को ही प्रकाशित करता रहता है। यही जीव की परम अवस्था तथा परमावस्था है।

[पूर्वश्लोकोक्त परमज्ञान का (परमात्मतत्त्व का) प्रकाश होने पर क्या होता है ? यह कहा जा रहा है—]

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

अन्वयः—तद्बुद्धयः तदात्मानः तन्निष्ठाः तत्परायणाः ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ।

अनुवाद—जिनकी बुद्धि उनमें ही (परब्रह्म में) दृढ़संलग्न है, जो लोग परब्रह्म को ही आत्मा जानते हैं, जो लोग परब्रह्म में ही निष्ठावान् हैं, परब्रह्म ही जिनकी परम गति है, एवं परब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान से जिनके सभी प्रकार के पापादि दोष दूर हो गये हैं वे लोग ही अपुनरावृत्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं ।

भाष्यदीपिका—तद्बुद्धयः—जिनकी बुद्धि परमार्थतत्त्व में पहुँच गयी है वे लोग [जो सर्ववेदान्त प्रसिद्ध सच्चिदानन्दैकरस सर्वात्मक परम-तत्त्व ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है उस परम तत्त्व को यहाँ 'तत्' शब्द से अभिहित किया गया है । उनमें जिनकी बुद्धि संलग्न (स्थित) रहती है वे अर्थात् अभ्यास की परिपक्वता के कारण सभी वाह्य विषयों का परित्याग कर जिनकी बुद्धि (अर्थात् साक्षात्कार रूप अन्तःकरणवृत्ति) परमात्मतत्त्व में ही (परब्रह्म में ही) पर्यवसित (लीन) रहती है वे निर्वीज-समाधिनिष्ठ योगीजन । [अब संशय है कि तब क्या जीवगण बोद्धा (ज्ञानकर्ता) हैं एवं ब्रह्मतत्त्व बोद्धव्य (ज्ञेय विषय) है अर्थात् जो परब्रह्म को बुद्धि का विषय मानते हैं वे क्या ज्ञेय परब्रह्म से भिन्न हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं (मधुसूदन)]

तदात्मानः—उस परब्रह्म को ही जो लोग आत्मा के रूप से जानते हैं अर्थात् परब्रह्म को आत्मरूप से साक्षात्कार कर जिनका परब्रह्म में ही 'अहं' प्रत्यय (अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा चित्तवृत्ति विशेष) सर्वदा रहता है ऐसे देहात्माभिमान रहित व्यक्तियों को 'तदात्मानः' कहा जाता है । ['तदात्मानः' पद के द्वारा यह समझाया जा रहा है कि वे लोग 'इतरात्म' नहीं हैं अर्थात् अनात्मा में (देहेन्द्रियादि में) अज्ञानी व्यक्तियों के समान वे लोग आत्मबुद्धि ('मैं देह हूँ' ऐसा अभिमान) नहीं करते हैं (मधुसूदन)] बोद्धा (ज्ञाता जीव) तथा बोद्धव्य (ज्ञेय ब्रह्म) में जो भेदबुद्धि रहती है वह माया का ही विलासमात्र हैं अर्थात् अविद्या का आश्रय करके ही ऐसी भेद-कल्पना की जाती है । इसलिए वह पारमार्थिक अभेद का विरोधी नहीं होती है । अब प्रश्न है कि कर्मानुष्ठानरूप विक्षेप विद्यमान् रहते हुए कैसे देहादि में

अभिमान (अध्यास) की निवृत्ति हो सकती है ? अर्थात् समाधि दशा में 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा प्रत्यय होने पर भी विद्वान् (तत्त्वज्ञ) व्यक्ति का भी आहारादि के समय में देह में अहंप्रत्यय तो अवश्य ही होगा, अतः क्या चिरकाल तक अभ्यस्त देहात्मबुद्धि के द्वारा ब्रह्मात्मप्रत्यय नष्ट नहीं हो जायेगा ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है, नहीं—] ।

तन्निष्ठाः—अज्ञानी की दृष्टि से तत्त्वदर्शी पुरुष लोग आहारादि कर्म करने पर भी वे द्वैतवस्तु मात्र का ही मिथ्यात्व निश्चय कर विवेकयुक्त मन के द्वारा सभी कर्मों का त्याग कर (गीता ५।१३) एकमात्र परब्रह्म में ही निरन्तर अभिनिवेश (दृढ़ आत्मभावना) करके परब्रह्म में ही तत्पर रहते हैं अर्थात् स्थित रहते हैं। तब उन्हें तन्निष्ठ अथवा ब्रह्मसंस्थ कहा जाता है। अतः 'तदात्मानः' जो हुए हैं उन्हें 'तन्निष्ठाः भी होना पड़ेगा। [प्रश्न है जबतक कोई विशेष प्रयोजन-सिद्धि के लिए कर्म के फल के प्रति अनुराग रहता है तबतक फल के साधनरूप कर्मों का किस प्रकार त्याग किया जाय ? (मधुसूदन)] इसके उत्तर में कह रहें हैं—

तत्परायणाः—उनका परब्रह्म ही परम अयन है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ प्राप्तव्य गति है। [वे लोग सभी वस्तु में पूर्णरूप से वैराग्यवान् होकर परमब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य प्राप्तव्य वस्तु की आकांक्षा नहीं करते हैं एवं परब्रह्म ही उन लोगों की एकमात्र लक्ष्यवस्तु (परागति) है, अतः केवल परब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही वे लोग निरन्तर रमण करते हैं] अर्थात् आत्मरति (आत्माराम) हुए हैं, इसलिये उन्हें 'तत्परायण' कहा जाता है। प्रश्न होगा—उक्त चारों प्रकार के विशेषणों से विशिष्ट होने पर भी ज्ञानोदय के पहले किये हुए कर्मों का एवं पूर्वजन्म के संचित कर्मों का फल तो भोग करना ही पड़ेगा। अतः शरीरपात के पहले तो और ब्रह्म में स्थिति लाभ करना सम्भव नहीं होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—

ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः—पूर्व श्लोक में (५।१६) जो ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्काररूप ज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया है उस ज्ञान के द्वारा उन लोगों के अन्तःकरणस्थित अज्ञान का नाश हो जाता है। जिन लोगों के संसार का हेतु पापपुण्यरूप कल्मष (सभी दोष) निर्धूत अर्थात् मूल अविद्या के साथ निर्मूल (उन्मूलित) हुए हैं वे लोग ही 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' हैं। जिन लोगों में 'मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ' ऐसी दृढ़ निष्ठा हुई है उन्हें पाप या पुण्य स्पर्श नहीं कर सकता है। अतः संचित तथा क्रियमाण सभी कर्मों का पाप तथा पुण्यरूप फलों से वे लोग मुक्त हो जाते हैं। श्रुति में इसलिये कहा गया है—

'न पुण्येन वर्धीयान् न पापेन कणीयान्' (वृ० उ०) अर्थात् पुण्य के द्वारा वे वृद्धि प्राप्त नहीं होते हैं एवं पाप के द्वारा ह्रास प्राप्त नहीं होते हैं। गीता में भी कहा गया है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' (गीता ४।३७) अर्थात् ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को भस्मीभूत कर देती है। सारांश यह है कि अनादि अज्ञान की निवृत्ति (नाश) होने पर उस अज्ञान का कार्यस्वरूप जो कर्म हैं उनका भी क्षय (नाश) हो जाता है। अतः ज्ञानी को पुनः देह ग्रहण के कारणस्वरूप पाप या पुण्यकर्म न रहने के कारण उनको और देह ग्रहण करना नहीं पड़ता है। इसलिये कहा जा रहा है—

अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति—उपर्युक्त 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' यतिजन अपुनरावृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं क्योंकि देह के साथ सम्बन्ध (देहाध्यास) न रहने के कारण संसार में उनकी पुनरावृत्ति (आगमन) नहीं होती है अर्थात् वे मुक्त हो जाते हैं। [इस श्लोक में मुक्त पुरुष के जो-जो लक्षण बताये गये हैं उन लक्षणों से विशिष्ट होना यतियों के (संन्यासियों के) लिये ही सम्भव है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थादि आश्रमों में स्थित लोगों के लिये यह प्रायः असम्भव ही है। इसलिये ही भाष्य में कहा गया है 'यतयः'। सर्वकर्मत्यागी ज्ञाननिष्ठ यति जब तक प्रारब्धवश देह धारण करते हैं तब तक ब्रह्मस्वरूप में ही अवस्थान कर जीवन्मुक्तावस्था का आनन्द भोग करते हैं एवं देहपात के बाद परब्रह्म में ही लीन होकर विदेहमुक्ति प्राप्त करते हैं। श्रुति में भी कहा गया है 'ब्रह्म सत् ब्रह्माप्येति' अर्थात् ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं।]

टिप्पणी (१) मधुसूदनी टीका का तात्पर्य—श्लोक में मुक्त पुरुष के जो-जो विशेषण दिये गये हैं उनमें परवर्ती विशेषग पूर्ववर्ती विशेषणों का हेतु है, ऐसा समझना पड़ेगा। श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा मूल अज्ञान के साथ अज्ञान का कार्य (पुण्यपापात्मक कर्मों) का नाश कर 'ज्ञाननिर्धूतकल्मष' होने पर 'तत्परायण' होता है अर्थात् सभी विषयों का परित्याग कर 'तत्' को अर्थात् परमात्मा को ही जीवन का 'पर-अयन' (परमगति) निश्चय करते हैं। 'तत्परायण' शब्द के द्वारा वैराग्य की प्रकृष्टता (अर्थात् पूर्ण वैराग्य का) निर्देश किया गया है। 'तत्परायण' होने पर 'तन्निष्ठ' होते हैं। 'तन्निष्ठ' शब्द के द्वारा सभी प्रकार के कर्मों का संन्यास (त्याग) पूर्वक श्रवण तथा मनन के परिपाकस्वरूप वेदान्त विचार का निर्देश किया गया है। इस प्रकार वेदान्त विचार के फलस्वरूप प्रमाण तथा प्रमेय के सम्बन्ध में जो असम्भावना (सम्भव नहीं है—ऐसी शंका) अज्ञान अवस्था में रहती है वह पूर्णरूप से निवृत्त हो जाती है एवं इसके द्वारा ब्रह्म

ही एकमात्र सत्य वस्तु है ऐसा निश्चय कर उसमें ही निष्ठालाभ होता है। ['वेदान्त विचार से ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है'—ऐसी जो शंका होती है उसे प्रमाणगत असम्भावना कही जाती है और 'ब्रह्म है कि नहीं एवं ब्रह्म का न रहना ही सम्भव है' ऐसी जो शंका होती है उसे प्रमेयगत असम्भावना कही जाती है।] ये दो प्रकार की शंका की निवृत्ति होनेपर जब यति तन्निष्ठ हो जाते हैं (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही स्थित रहते हैं) तब वे 'तदात्मा' हो जाते हैं। इससे समझना पड़ेगा कि उनका निदिध्यासन परिपक्व हो गया है एवं अनात्मा में (अर्थात् जड़देहादि में) जो अहं—अभिमानरूप विपरीत भावना थी उसकी निवृत्ति हो गयी है। तब परब्रह्म को ही वे आत्मा के रूप से अनुभव करते हैं। 'तदात्मानः' शब्द निदिध्यासन की परिपक्वता सूचित कर रहा है। 'तदात्मानः' होने पर बुद्धि में सर्वदा ही ब्रह्माकारावृत्ति रहती है, दूसरी सभी वृत्तियों का नाश हो जाता है एवं तत्पश्चात् वह यति 'तद्बुद्धयः' हो जाते हैं। 'तद्बुद्धयः' शब्द से आत्मसाक्षात्कार कर निरन्तर ब्राह्मी-स्थिति को सूचित कर रहा है। जो यति ऐसे पाँच विशेषणों से विशिष्ट होते हैं वे देहपात के बाद कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करते हैं अर्थात् पुनर्वार देह ग्रहण के हेतुरूप से कोई कर्म अवशिष्ट नहीं रहने के कारण उन्हें और संसार में नहीं लौटना पड़ता है। [इसलिए वेदान्तसूत्र में कहा गया है— 'न स पुनरावर्तते' 'न स पुनरावर्तते' अर्थात् ब्रह्म में स्थितिलाभ करने पर देहपात के बाद यति ब्रह्म में ही लय हो जाते हैं, उनको और संसार में लौटना नहीं पड़ता है।

(२) श्रीधर—[इस प्रकार की ईश्वरोपासना का क्या फल है ? वह कह रहे हैं—]

तद्बुद्धयः—उनमें ही (परमात्मा में ही) जिनकी निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है तदात्मानः—उनमें ही जिनकी आत्मा अर्थात् मन लगा रहता है तन्निष्ठाः—उनमें ही जिनकी निष्ठा अर्थात् तात्पर्य (एकाग्रता) है तत्-परायणाः—वे ही जिनका परम अयन अर्थात् आश्रय है एवं ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः—उस ईश्वर के प्रसाद (कृपा) प्राप्त आत्मज्ञान के द्वारा जिनके कल्मष [पाप अर्थात् संसार गति का हेतु धर्माधर्म कर्मरूप पाप] निर्धूत अर्थात् निरस्त (नष्ट) हो गया है वे यति अपुनरावृत्ति—मुक्ति को गच्छन्ति-प्राप्त करते हैं।

(३) शंकरानन्द—'तेन त्यक्तेन भुञ्जिथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' अर्थात् इसलिए त्याग के द्वारा (आत्मज्ञान की) रक्षा करो, किसी के भी

धन को ग्रहण न करो' इस प्रकार श्रुतियों में कहे गये नियम के अनुसार जो लोग विदेहकैवल्य को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं उनलोगों को उत्पन्न हुए ज्ञान का संरक्षण करना अवश्य कर्तव्य है अर्थात् सर्वदा आत्मनिष्ठा में स्थित रहकर बाहर कुछ भी नहीं देखना चाहिए, इसे बोध कराने के लिए श्रीभगवान कह रहे हैं--

तद्बुद्धयः—तत् अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के द्वारा रूप प्रकाशित होता है उस प्रकार श्रवणादि जन्य ज्ञान से प्रकाशित सर्ववेदान्तों में प्रसिद्ध सच्चिदानन्दैकरस सर्वात्मक परब्रह्म में जिनकी बुद्धि रहती है उन्हें 'तद्बुद्धि' अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मदर्शी कहा जाता है। इसके द्वारा कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार चक्षु केवल रूप को ही देखता है उसी प्रकार मुमुक्षु को कल्पित भेद का ग्रहण न कर प्रत्यग्दृष्टि से सदा सर्वत्र ब्रह्म को ही देखना चाहिए। 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस प्रकार सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही ग्रहण करते रहने पर भी ग्रहीता तथा ग्राह्य के रूप से भी यदि भेदबुद्धि रहे तब भी 'य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' (इसमें जो थोड़ा सा भी भेद करते हैं उससे उनको भय होता है) इस श्रुतिवाक्य के अनुसार भेद-दर्शी का भय सुना जाता है। अतः अपने को परब्रह्म से अभिन्न देखना चाहिए। इसलिए कहते हैं—**तदात्मानः**—तत् अर्थात् वह परब्रह्म ही जिनकी आत्मा (अहंप्रत्यय का अर्थ या विषय) है उन्हें 'तदात्मा' कहा जाता है अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्म को ही अपनी आत्मा के रूप से साक्षात् कर ब्रह्म में ही जिनका अहंप्रत्यय ('मैं' यह बुद्धि) रहता है किन्तु देह में आत्म-बुद्धि नहीं रहती है वे लोग 'तदात्मानः' हैं। समाधिदशा में केवल ब्रह्म में अहं प्रत्यय रहने पर भी विद्वान् के आहार आदि में देह में अहंप्रत्यय हो जाता है। जैसे बाहर की ध्वनि से (भीतर की) नाद की ध्वनि नष्ट हो जाती है उस प्रकार इस प्रबल तथा चिरकाल तक अभ्यस्त स्थूल देहात्मप्रत्यय के द्वारा (अर्थात् 'देह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि के द्वारा) ब्रह्मात्मप्रत्यय विनष्ट हो सकता है। अतः बाह्यकर्मों का त्याग कर आहारादि सभी अवस्था में दृश्य को ग्रहण न कर सर्वत्र आत्मत्वबुद्धि के द्वारा ब्रह्म में ही स्थित रहना चाहिए, इसे निर्देश करने के लिए कहते हैं–**तन्निष्ठाः**–उसमें अर्थात् ब्रह्म में अहंबुद्धि की निश्चलता को ('मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार की बुद्धि जब निश्चल होती है तब उसी अवस्था को) निष्ठा कहा जाता है।

ऐसी निष्ठा जिनमें है वे 'तन्निष्ठाः'–हैं। अपने को जो लोग ब्रह्म-स्वरूप से स्थित देखते हैं उनकी ही वृत्ति स्थिरीभूत (निश्चल) रहती है—यही

कहने का अभिप्राय है। ब्रह्म में आत्मत्वदर्शन के द्वारा जिनकी चित्तवृत्ति स्थिरीभूत हुई है उनको भी यदि कभी दूसरे किसी प्रयोजन की अपेक्षा रहे तब उसके द्वारा वही निष्ठा प्रतिबद्ध (लुप्त) हो जाती है एवं बाह्यवस्तु में देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है। इसलिए भीतर बाहर किसी कार्य की भी अपेक्षा न करके मुमुक्षु को उस एकमात्र ब्रह्म में ही परायण होना कर्त्तव्य है, इस अभिप्राय से कहते हैं तत् परायणाः—तत् अर्थात् वह सच्चिदानन्दैकरस, अद्वितीय, आत्मरूप से अधिगत (साक्षात्कृत) परब्रह्म ही बाहर भीतर सदा (चक्षु की गति जिस प्रकार रूप है अर्थात् चक्षु जिस प्रकार रूप को ही देखता है उस प्रकार) जिनकी बुद्धि वृत्ति का पर (नियत) अयन (गति) होता है वे 'तत् परायण' हैं। आहार, विहार, आदि में सदा सर्वत्र ब्रह्मदर्शन और ब्रह्म में ही केवल चिदाकारवृत्ति से आत्मदर्शन जो कभी भी त्याग नहीं करते हैं वे 'तत् परायण' हैं अर्थात् सदा आत्माराम हैं। इस प्रकार तत् बुद्धि (सर्वत्र ब्रह्मदर्शन) तदात्मत्व (ब्रह्म में आत्मत्वदर्शन), तन्निष्ठत्व, तत् परायणत्व—ये सब विदेह मुक्ति के चार असाधारण कारणों का अनुष्ठान जो ब्रह्मविद् करते हैं वे ही ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (सन्तः)—ज्ञान द्वारा अर्थात् उक्त चार अन्तरंग साधनों के अनुष्ठान से जो ज्ञान की अप्रतिबद्धता (अखण्डित ज्ञान को) प्राप्त हुए हैं (अर्थात् निरन्तर ब्राह्मी स्थिति लाभ किया है) एवं जिसका उस ज्ञान के द्वारा निर्धूत अर्थात् निःशेष से प्रक्षालित (नष्ट) हुआ है जगत तथा ब्रह्म एवं ब्रह्म तथा आत्मा का भेद ग्रहणरूप बुद्धि का कल्मष (मलिनता) वे ज्ञाननिर्धूतकल्मष हैं ऐसा होकर यति स्वयं अपुनरावृत्तिं गच्छति—उस अपुनरावृत्ति को अर्थात् देहसम्बन्धरहित मुक्ति को प्राप्त होते हैं पुनः देह के साथ सम्बन्ध की प्राप्ति को पुनरावृत्ति कहा जाता है, उसका अभाव है अपुनरावृत्ति। ब्रह्मरूप से अवस्थान-दशा में यदि देह नष्ट हो जाय (अर्थात् यदि प्राणवियोग हो) तब ब्रह्म में ही चित्तवृत्ति लीन रहने के कारण स्वयं वे लोग ब्रह्मस्वरूप से ही स्थित रहते हैं (अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते हैं) एवं इस कारण से पुनः देहधारण कर संसार में उनलोगों को लौटना नहीं पड़ता है, यही कहने का तात्पर्य है।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोकोक्त ज्ञान से जब अज्ञान का नाश होता है तब क्या होता है ? वह कहा जा रहा है—ज्ञान के द्वारा अज्ञान नाश होने पर एवं संसार की सभी वस्तु का मिथ्यात्व तथा आत्मा का सत्यत्व निर्धारित होने के कारण सभी विषयों के प्रति वैराग्य (विगत राग) होता है एवं अद्वयाखंड ब्रह्म के (परमात्मा के) प्रति विशेष राग उत्पन्न होता है।

इसी दशा में 'तत्' पदार्थलक्ष्य आत्मा ही उनकी परम अयन अर्थात् गति (अन्तिम लक्ष्य वस्तु) होने के कारण यति (अर्थात् सर्वत्यागी संन्यासी) 'तत् परायण' होते हैं एवं बाद में पुनः पुनः श्रवण मननादि के अभ्यास के द्वारा 'तन्निष्ठ' होते हैं अर्थात् उस ब्रह्मस्वरूप में ही [सर्वकर्मत्याग से विक्षेपका अभाव होने पर] निरन्तर निष्ठा (स्थिति) लाभ करने में समर्थ होते हैं। उसके बाद निदिध्यासन की परिपक्वावस्था में देहात्माभिमान के सूक्ष्म संस्कार भी नष्ट हो जाने पर यति ब्रह्म तथा अपनी आत्मा का ऐक्य एकरूप साक्षात्कार कर अर्थात् 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा साक्षात् अनुभव कर 'तदात्मा' होते हैं। यह आत्मसाक्षात्कारजनित ज्ञानधारा (ज्ञाननिष्ठा) जब और खंडित नहीं होती है तब व्युत्थानावस्था में उनकी बुद्धि में निरन्तर ब्रह्मकारा-वृत्ति ही रहती है अर्थात् वे 'तद्‌बुद्धि' होते हैं। इस प्रकार चार विशेषणों से युक्त यति [संन्यासी के लिए ही ऐसा होना सम्भव है इस लिए यति शब्द का यहाँ प्रयोग किया गया है | वे अपनी ज्ञाननिष्ठा के द्वारा सर्व कल्मष (पाप) को निःशेष धौत (नष्ट) कर देते हैं। [संचित तथा क्रियमाण इत्यादि सभी पाप तथा पुण्यात्मक कर्म को 'कल्मष' कहा जाता है क्योंकि वे सभी कल्मष (पाप) रूप संसारगति का हेतु है। ब्राह्मीस्थिति होने पर देहात्मबुद्धि का अभाव होने के कारण देहादि द्वारा किए हुए कोई पाप या पुण्य कर्म उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता है। इस कारण से श्रुति में कहा गया है– 'नैनं पुण्यपापे स्पृशतः' (तै० उ०) और गीता में भी कहा गया है— 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !' अर्थात् हे अर्जुन, ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्मों को भस्मीभूत कर देती है। अतः पाप या पुण्यरूप कर्मबीज न रहने के कारण उनकी संसार में पुनः आवृत्ति (आवागमन) नहीं होती हैं अर्थात् उनको और संसार में लौटना नहीं पड़ता है एवं वे देहपात के बाद ब्रह्म होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। इसलिये श्रुति भी कहती है 'ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येति'।]

[जिनका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाता है उस पंडित का दर्शन किस प्रकार का होता है ? वही अब कहा जा रहा है]।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥

अन्वयः—पंडिताः विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि, शुनि श्वपाके च समदर्शिनः (भवन्ति)

अनुवाद—पंडित लोग अर्थात् जिनको आत्मतत्त्व का ज्ञान हुआ है वे विद्या तथा विनय युक्त ब्राह्मण, गो, हस्ती, कुक्कुर तथा श्वपाक अर्थात् चंडाल प्रभृति सभी प्राणियों में ही समदर्शी (समदृष्टियुक्त) होते हैं।

भाष्यदीपिका—पंडिताः—पंडित लोग अर्थात् ज्ञानी व्यक्ति। विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे—विद्या और विनयमुक्त ब्राह्मण में। विद्या शब्द का अर्थ है आत्मज्ञान (आत्मा के विषय में बोध) [अथवा वेदान्त परिज्ञान या ब्रह्मविद्या (मधुसूदन)] और विनय का अर्थ है उपशम [अथवा अहंकारहीनता अर्थात् उद्धत नहीं होना (मधुसूदन)] विद्या तथा विनय के द्वारा सम्पन्न (संयुक्त) जो हैं उन्हें विद्याविनयसम्पन्न कहा जाता है। ऐसे सात्त्विक तथा उत्तम संस्कार युक्त विद्वान् (ब्रह्मवित्) एवं विनीत ब्राह्मण में तथा गवि—गौ में अर्थात् संस्कार विहीन रजोगुण प्रधान मध्य जातीय जीवों में एवं हस्तिनि, शुनि, श्वपाके च—[हाथी में, कुक्कुर में, चंडाल में अर्थात् केवल (अत्यन्त) तमोगुणाच्छन्न सर्वापेक्षा निकृष्ट जीवों में। 'च शब्द के द्वारा लोष्ट, प्रस्तर, कांचन सोना प्रभृति को समझाया जा रहा है]।

समदर्शिनः—जिन्हें सत्त्व रजः तमः गुण एवं उन गुणों से उत्पन्न संस्कार किसी प्रकार से भी स्पर्श नहीं कर सकता है (अर्थात् कोई वस्तु एवं वस्तु का गुण या धर्म या कर्म के द्वारा जो सदा ही अस्पृष्ट अर्थात् निर्लिप्त रहते हैं) उस कूटस्थ, असंग, अखंडाद्वितीय, अविक्रिय ब्रह्म को सम—कहा जाता है। ब्रह्म में आरोपित (मिथ्या) नामरूप तथा क्रिया प्रभृति को ग्रहण न कर उनके अधिष्ठानभूत एकमात्र सम ब्रह्म को सर्वत्र (सभी वस्तुओं में) दर्शन करना ही जिनका शील या स्वभाव है उन्हें समदर्शी कहा जाता है। पंडित लोग ऐसे ही समदर्शी होते हैं ब्रह्म तथा आत्मा के एकत्व ज्ञान में निष्ठा (परिपक्वता) होने पर सदा समदर्शी होना (अर्थात् विषमदर्शी न होना ही) पंडितों का (ज्ञानी का) धर्म है अर्थात् समदर्शित्व ही पांडित्य है, इसे ही यहाँ स्पष्ट किया गया। [जिस प्रकार सूर्य गंगाजल में, पुष्करिणी में शराव में, मूत्र में प्रतिबिम्बित होने पर भी तत् तत्स्थानीय गुण तथा दोषों के साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं होता है उस प्रकार ब्रह्म भी चिदाभास के द्वारा (मैं ब्राह्मण हूँ, मैं चंडाल हूँ ऐसा अभिमान कर) ब्राह्मण, चंडालादिरूप उपाधियों में प्रतिबिम्बित होने पर भी उपाधिस्थित गुण तथा दोष के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, इसे ब्रह्मवित् पुरुष (पंडित) जानकर सर्वत्र समब्रह्म का दर्शन कर राग तथा द्वेष विहीन होने पर (स्वरूपस्थित)

परमानन्द का स्फुरण होने से जीवन्मुक्ति की अवस्था का अनुभव करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—जो अपुनरावृत्ति को प्राप्त हुए हैं वे ज्ञानी जन कैसे होते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं—] **पंडिताः**—विषयों में भी समब्रह्म का दर्शन करना जिनका स्वभाव है वे पंडित अर्थात् ज्ञानी (तत्त्वदर्शी) हैं । वे लोग **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे**—विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण में **गवि हस्तिनि शुनि च एवं श्वपाके च**—गाय में, हाथी में, कुत्ते में एवं श्वपाक में (अर्थात् जो लोग कुत्ते को पकाकर खाते हैं उन चंडालों में भी) **समदर्शिनः**—समदर्शी होते हैं अर्थात् सर्वत्र सम ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं। यहाँ 'ब्राह्मण' तथा 'श्वपाक' शब्द के द्वारा कर्म की दृष्टि से वैषम्य दिखाया गया है एवं 'गवि हस्तिनि शुनि' च के शब्दों द्वारा जातिगत वैषम्य दिखाया गया है। इस प्रकार विषम वस्तुओं में जो समदर्शन करते हैं वे ही पंडित (ज्ञानी) हैं।

(२) शंकरानन्द—पूर्वश्लोक में 'तद्बुद्धयः' इत्यादि शब्द के द्वारा ब्रह्मवित् यतियों के कल्पित नामरूपादि ग्रहण न कर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करना ही सर्वदा कर्तव्य है ऐसा विधान किया गया है। वह सर्वत्र ब्रह्मदर्शन कैसा है ? उसे ही अब स्पष्ट कर रहे हैं—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे—विद्या तथा विनय के द्वारा सम्पन्न ब्राह्मण में। सम्पूर्ण वेदशास्त्र का अध्ययन अथवा वेदशास्त्र के अर्थ का ज्ञान विद्या है और विनय शब्द का अर्थ है नम्रता या उपशान्ति। इन दोनों के द्वारा एवं और भी सद्गुण तथा स्वधर्मपरत्व, प्रतिग्रहविमुखत्व, सत्य, शौच, दया इत्यादि गुणों के द्वारा सम्पन्न जगत्पूज्य ब्राह्मण में **श्वपाके**—जाति, गुण, तथा धर्म से जो परमनिकृष्ट तथा अपनी प्राणवृत्ति के लिए जो कुत्ते को भी पकाता है (भोजन करता है) अथवा दूसरे दिन (श्वः) भोजन करने के लिए जो पहले दिन पकाता है उसे श्वपाक (चंडाल) कहा जाता है। उसमें भी **गवि**—जाति के द्वारा, संचार द्वारा, दुग्धादि द्वारा जगत्पावनी (जगत् को पवित्रकारिणी) जो गोमाता है उसमें एवं **शुनि**—जाति आदि से अतिनिकृष्ट तथा तुच्छ पदार्थों का (मल आदि का) भक्षणकारी कुत्ते में भी पुनः **हस्तिनि च एव**—राजपूज्य भद्रहाथी में। 'च' शब्द के द्वारा लोष्ट्र (ढ़ेला), पत्थर, स्वर्ण आदि को भी ग्रहण किया गया है। **समदर्शिनः**—सम शब्द का अर्थ है तत्तत्द्रव्य तत्-तत् गुण, तत्-तत् धर्म एवं तत्तत् कर्मों के द्वारा जो अस्पृश्य (स्पर्श के अयोग्य) रहकर सर्वदा आकाश की तरह एकरूप से

(समान रूप से) स्थित रहते हैं। इसलिए परब्रह्म को ही 'सम' कहा जाता है। उस सम को अर्थात् परब्रह्म को सर्वत्र देखना ही जिनका स्वभाव है, वे समदर्शी हैं। ये ही पंडिताः—पंडितशब्दवाच्य हैं अर्थात् आरोपित रूप नाम आदि को ग्रहण न करके जो सर्वत्र अधिष्ठानभूत ब्रह्ममात्र के ही दर्शनमें परायण हुए हैं वे ही पंडित हैं। पर तथा अवर के (ब्रह्म तथा जीव के) एकत्वविज्ञान जिनका परिपक्व हुआ है ऐसे पंडित सर्वदा समदर्शी ही होते हैं, कभी भी विषमदर्शी नहीं होते हैं। इसके द्वारा सूचित होता है कि समदर्शीत्व (समदर्शी होना ही) पंडितों का धर्म है।

(३) नारायणी टीका—"अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश—पञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥" अर्थात् अस्ति (है), भाति (प्रकाशित हो रहा है), प्रियं (आनन्ददायक), नाम तथा रूप—ये पाँच जगत् की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान् है। उनमें पहला तीन ब्रह्म है एवं अन्तिम दो (अर्थात् नाम तथा रूप) जगत् है। स्थूल जगत् होने के कारण सभी प्रकार से अनित्य तथा अस्थिर है। हार, वलय, कंकण इत्यादि के नाम तथा रूप के प्रति दृष्टि न देकर उनका उपादान कारण सोने के प्रति यदि दृष्टि दी जाय तब उन अलंकारों में भेद बुद्धि नष्ट होकर एकत्वज्ञान (समदर्शन) जैसे होता है उसी प्रकार जगत् के उत्कृष्ट, निकृष्ट या मध्यम वस्तुओं का नाम तथा रूप का त्याग कर उनमें जो सबका उपादान स्वरूप तथा अधिष्ठानभूत नित्यसत्य (अस्ति, भाति, प्रिय अर्थात् सच्चिदानन्द) ब्रह्म हैं उन्हीं का ही जब सर्वदा दर्शन होता रहे तब उस समब्रह्म के दर्शन करनेवाले को पंडित कहा जाता है अर्थात् समदर्शन ही पंडित का (यथार्थज्ञानी का) लक्षण है।

[अच्छा, सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक सभी प्राणी ही स्वभावतः विषम अर्थात् अत्यन्त भेदयुक्त है, अतः उनके प्रति जो समत्वदर्शन है वह धर्मशास्त्र विरुद्ध है क्योंकि गौतमप्रणीत स्मृति शास्त्र में कहा गया है 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' (गौ० स्मृ० १७।२०) अर्थात् सम एवं असम व्यक्तियों को पूजा दान आदि कर समको विषम एवं असमको सम किये जाने पर उस पूजा या दान आदि के लिए पूजयिता का अन्न अभोज्य (भोजन करने योग्य नहीं) होता है।

[कहने का अभिप्राय यह है कि—उत्कृष्ट व्यक्ति की (सदाचारी वेदपारग ब्राह्मण की) जिस प्रकार पूजा किया जाता है उस प्रकार यदि चंडाल प्रभृति हीनाचार विशिष्ट व्यक्ति की पूजा किया जाय तब उत्तम व्यक्ति के प्रति हीनता का प्रदर्शन किया जाता है एवं हीन व्यक्ति के प्रति उत्तमता का

प्रदर्शन किया जाता है। जो व्यक्ति वैसी पूजा करता है (क) उसका अन्न अभोज्य होता है क्योंकि वैसा करने में वह अशुचि होकर पाप का भागी होता है। स्मृतिवचन में 'अभोज्यान्नत्व' शब्द द्वारा यह उपलक्षण कर सूचित किया गया है कि इस प्रकार की पूजा द्वारा वे लोग अशुचि हो जाते हैं एवं इस कारण पाप का भागी होते हैं। (ख) पूजयिता दान के सम्बन्ध में उत्कृष्ट तथा हीन व्यक्ति में तारतम्य न करने (भेद न रखने) के कारण धन तथा धर्म से विच्युत होता है। किन्तु यति प्रयोजन से अतिरिक्त वस्तु का संग्रह नहीं करता एवं स्वयं पाक करके अन्न का भोजन भी नहीं करता है, अतः यति के (संन्यासी के) परिग्रह का तथा अन्न के पाक का अभाव रहने के कारण उनके पास दान करने के लिए अन्न या धन नहीं रहता है। अतः उनका अन्न अभोज्य होना या धन का नाश होना सम्भव नहीं है। तथापि उक्त प्रकार के विषम में सम एवं सम में विषम देखने से यति का भी तो धर्म-हानि दोष अवश्य ही होगा अर्थात् यति सर्वत्र समदर्शन के द्वारा विषम को सम करने के अपराध से अशुचि होकर पाप का भागी क्यों नहीं होगा? एवं उसकी तपस्यारूप धन की हानि क्यों नहीं होगी? यदि ऐसा ही हो तब पंडित लोग समदर्शी होकर जीवन्मुक्ति की अवस्था कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसके उत्तर में कह रहे हैं—नहीं, ब्रह्मज्ञ पुरुष का सर्वत्र समदर्शन रहने के कारण वे दोषयुक्त नहीं होते हैं क्योंकि (मधुसूदन)]

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

अन्वयः—येषां मनः साम्ये स्थितम् तैः इह एव सर्गः जितः, हि समं ब्रह्म निर्दोषं, तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः।

अनुवाद—जिनका मन साम्य में अवस्थित रहता है वे इस लोक में रहकर ही अर्थात् वर्तमान देह में जीवित रहते हुए ही भविष्यत् जन्म को जय करने में (परिहार) करने में समर्थ होते हैं अर्थात् उनको और पुनर्जन्म नहीं होता है। चूँकि समत्वरूप ब्रह्म निर्दोष है, (मिथ्या द्वैतवस्तु के दोष से अस्पृष्ट रहते हैं), इस कारण से वे लोग (अर्थात् साम्य में अवस्थित तत्त्वज्ञ पुरुष) ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं (एवं जो पाप पुण्य रूप दोष के निमित्त पुनर्जन्म होता है उससे अस्पृष्ट रहते हैं अर्थात् दोषयुक्त नहीं होते हैं)।

भाष्यदीपिका—**येषां मनः**—जिनका मन। [जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य-विज्ञान प्राप्त कर एवं तद्बुद्धित्वादि अन्तरंग साधनों से सम्पन्न (५।१७)

होकर सर्वकर्म का त्याग करके ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण जिनका मन (अन्तः-करण)] साम्ये—सर्वभूत में विद्यमान ब्रह्मरूप समभाव में अर्थात् सभी स्थावर तथा जंगम (विषम) वस्तुओं में जो समरूप से सर्वदा वर्तमान हैं उस परिपूर्ण अखण्डाद्वय परब्रह्म में स्थितं—निश्चलरूप से स्थित रहते हैं तैः—उन समदर्शी पंडितो के द्वारा इह एव—जीवित अवस्था में ही अर्थात् वर्तमान देह के नाश होने के पहले ही (जोवन्मुक्ति प्राप्त कर) सर्गः—जन्म अर्थात् मृत्यु के बाद भावी देह का सम्बन्ध प्राप्त कर जो जन्म हो सकता है वह जन्म [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं–'सृज्यत इति व्युत्पत्त्या सर्गः द्वैतप्रपंचः' अर्थात् जो सृष्ट होता है इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्ग शब्द का अर्थ द्वैतप्रपंच है समदर्शी पंडित जब जीवित अवस्था में ही द्वैतप्रपंच का अतिक्रमण कर जीवन्मुक्त होते हैं तब वे देहपात के बाद द्वैतप्रपंच (जन्म मृत्युरूप संसार) अतिक्रमण करेंगे इसमें और सन्देह क्या रह सकता है] जितः–वशीकृत होता है (विजित या अतिक्रान्त होता है अर्थात् भावी जन्म उन लोगों का नहीं होता है)। हि—चूँकि समं ब्रह्म निर्दोषं—सम ब्रह्म सभो प्रकार के दोषों से रहित हैं। यद्यपि दोषयुक्त श्वपाक आदि के (चण्डाल प्रभृति के) देह में स्थित होने के कारण मूढ़ जनों की दृष्टि से चण्डाल आदि के दोष से ब्रह्म (आत्मा) भी दोषयुक्त के समान प्रतीत होता है तब भी वास्तव में वह आत्मा निर्दोष (दोषरहित) हैं अर्थात् उन दोषों से अस्पृष्ट (निर्लिप्त) रहते हैं। [ब्रह्म सभी प्रकार के दोषों से वर्जित हैं क्योंकि चैतन्य (चित्तस्वरूप ब्रह्म) निर्गुण है एवं इस कारण ब्रह्म (आत्मा) गुणों के भेद से भिन्न नहीं हो सकते हैं अर्थात् शुद्ध चैतन्य में कोई भेद नहीं रह सकता है चूँकि भेद या द्वैतमात्र ही गुणों का कार्य है। भेद न रहने पर कौन किसको दूषित करेगा ? भगवान भी गीता के त्रयोदश अध्याय में कहेंगे कि इच्छा प्रभृति क्षेत्र का धर्म है—आत्मा अनादि तथा निर्गुण होने के कारण आत्मा लिप्त नहीं होती अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप से कभी भी विच्युत नहीं होती है (गीता १३।३१)। वैशेषिकों के मतानुसार प्रत्येक द्रव्य में 'नित्य अन्त्य विशेष' को स्वीकार किया जाता है एवं वे लोग कहते हैं कि उसके द्वारा ही आत्मा का नानात्वरूप भेद सिद्ध हो सकता है किन्तु वह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रतिशरीर के भेद से आत्मगत तादृश 'अन्त्य विशेष' वस्तु के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। अतः इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सम है (सभी वस्तुओं में समानरूप से अखंड चैतन्यरूप से स्थित है) और एक ही है। इस कारण ब्रह्म (आत्मा) निर्दोष है (क्योंकि द्वैतवस्तु मात्र ही काल्पनिक या मिथ्या है, अतः द्वितीय कोई

पारमार्थिक वस्तु नहीं है जिसके द्वारा ब्रह्म दोषयुक्त हो सकता है)। तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः—इसलिए जो लोग सम तथा निर्दोष ब्रह्म में ('मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्माकारा वृत्ति के द्वारा) निश्चलरूप से स्थिति प्राप्त करते हैं उनके देहादि के संघात में आत्मबुद्धि (अभिमान) नहीं रहने के कारण दोष का गन्ध मात्र भी (लेशमात्र दोष भी) उन्हें स्पर्श नहीं कर सकता है। अतः वे भी ब्रह्म के समान ही निर्दोष होते हैं। साधारण जीव देहादिसंघात में आत्माभिमान करते हैं, अतः वे पूजाविषयक विशेषणों के द्वारा युक्त होने के कारण उन्हें विषय करके ही (लक्ष्य करके ही) धर्मशास्त्र में 'सम तथा असम' व्यक्ति का विषम तथा समभाव में पूजा करने से प्रत्यवाय (दोष) होता है ऐसा कहा गया है। पात्रों में गुण के भेदानुसार पूजा तथा दानादि कार्य का विशेष विशेष विधान शास्त्र में किया गया है। पूजा, दान आदि क्रियाओं में ब्रह्मवेत्ता, षडंगवित् (छओं अंगों को जाननेवाला), चतुर्वेदवित् इत्यादि विशेष-विशेष गुणों से युक्त पात्रों का सम्बन्ध देखा जाता है किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण गुण तथा दोषों के सम्बन्ध से रहित है। (चूँकि तत्त्वज्ञानी को भी कोई गुण या दोष स्पर्श नहीं कर सकता), अतः यह कहना युक्तियुक्त ही है कि वे ब्रह्म में स्थित हैं। इसके अतिरिक्त 'समासमाभ्याम्' इत्यादि वाक्यों का विषय है गृहस्थ कर्मी, और यहाँ 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' (गीता ५।१३) इत्यादि श्लोक से आरम्भ कर उस अध्याय की परिसमाप्ति तक जो कुछ कहा गया है उनका विषय या लक्ष्य है वे विद्वान् पुरुष जो सर्व-कर्म संन्यास (त्याग) किये हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि देहात्मा-भिमान शून्य होकर जो लोग सर्वकर्मसंन्यास करके निर्दोष सम ब्रह्म में स्थित रहते हैं वे (निरन्तर ज्ञाननिष्ठा द्वारा) जीवित अवस्था में ही सभी गुण-दोषों से वर्जित होकर ब्रह्मस्वरूपत्व ही प्राप्त होते हैं। [अतः देहादि में आत्मबुद्धि एवं जागतिक वस्तुओं में ममत्वबुद्धि त्याग करने के कारण तथा अविद्या एवं उससे उत्पन्न काम (वासना) एवं तज्जनित कर्मों का निःशेष विनाश होने के कारण काम तथा कर्म आदि के फल के रूप से जो भावी देह का जन्म होता है वह भी उन लोगों का नहीं हो सकता है, यही श्लोक का तात्पर्य है]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन-निर्दोषम्—इत्यादि। दोष या अपवित्रता दो प्रकार का हो सकता है (क) दुष्ट या अपवित्र वस्तु से सम्बन्ध होने पर जो पवित्र है वह भी दुष्ट (अपवित्र) हो जाता है, जिस प्रकार स्वभावतः अपवित्र मूत्र के गढ्ढे में पतित होने पर गंगाजल भी अपवित्र (दुष्ट) हो जाता है (ख) पुनः कोई कोई वस्तु स्वतः ही दुष्ट या अपवित्र है जैसा मूत्रादि। किन्तु

स्वभावतः दुष्ट (अपवित्र) चंडालों में स्थित ब्रह्म चंडाल आदि रूप उपाधि के दोष से दुष्ट या अपवित्र होते हैं ऐसा मोहग्रस्त अविवेकी लोग मानने पर भी ब्रह्म आकाश के समान सभी प्रकार के दोषों से असंस्पृष्ट ही रहता है क्योंकि वह असंग है। इसलिए श्रुति में कहा गया है 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (बृह० उ० ४।३।१५), 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ (क० उ० २।५।११) अर्थात् 'यह पुरुष असंग है' सूर्य जिस प्रकार समस्त जीवों का चक्षुस्वरूप होकर भी चक्षुःस्थित बाह्यदोषों के द्वारा लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सभी प्राणियों की जो अन्तरात्मा हैं वे एक होने पर भी जागतिक दुःख (दोष) के द्वारा संस्पृष्ट लिप्त नहीं होती है। अतः अपवित्र जीवों के हृदय में निवास करने पर भी ब्रह्म अपवित्र नहीं होता है।

पुनः कामना प्रभृति धर्म रहने के कारण सर्व प्राणी के हृदय में स्थित ब्रह्म स्वतः ही अपवित्र है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है क्योंकि कामना प्रभृति ब्रह्म का (आत्मा का) धर्म नहीं है, वे अन्तः करण का ही धर्म है, यह श्रुति तथा स्मृति शास्त्र में प्रतिपादित हुआ है। श्रुति में कहा गया है–'कामः संकल्पो-विचिकित्सा ह्रीर्धीर्भीसर्वं मनः एतत्' (बृह० उ०) अर्थात् काम, संकल्प, चेष्टा, लज्जा, बुद्धि, भय यही सभी ही मन है (मनका वृत्तिमात्र हैं)। अतः ब्रह्म स्वतः या परतः किसी प्रकार से ही दोषयुक्त नहीं हो सकता है एवं जो लोग ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य अनुभव कर उसमें ही निष्ठा (स्थिति) प्राप्त किये हैं ऐसे जीवन्मुक्त यति निर्दोष ब्रह्मस्वरूप हो हो जाते हैं। अतः उनका सर्वत्र समदर्शन रहने के कारण अभोज्यान्नत्व प्रभृति दोषों से वे दुष्ट (कलुषित नहीं हो सकते हैं। जीवन्मुक्त यति निर्दोष ब्रह्म स्वरूप होते हैं, पुनः फिर वे अभोज्यान्नत्व दोष से दुष्ट होते हैं—ऐसी उक्ति व्याहत (व्याघात दोष दुष्ट) होती है अर्थात् इस प्रकार की उक्ति सर्व प्रकार से युक्ति विरुद्ध है। अतः समासमाभ्याम् इत्यादि स्मृति वचन का विषय अविद्वान् (अज्ञ) गृहस्थाश्रमी ही है ऐसा समझना पड़ेगा क्योंकि वह स्मृति वचन 'उसका अन्न अभोज्य है' इस प्रकार आरम्भ कर बीच में 'वैसी पूजा से ऐसा होता है' इस प्रकार कह कर अन्त में 'धन तथा धर्म से भ्रष्ट होता है' ऐसा उपसंहार किया गया है। अतः उस वचन का उपक्रम उपसंहार तथा मध्यस्थल में हेतु के निर्देश से यह ही सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञान शून्य अब्रह्मविद् तथा कर्मों में अधिकारी गृहस्थ के ही सम में विषम एवं विषम में समदर्शन प्रत्यवाय के (दोष के) कारण होता है किन्तु समदर्शी ब्रह्मवित् के लिए वह प्रयोज्य नहीं है।

(२) श्रीधर—[गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है—'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' अर्थात् जो लोग असमान व्यक्तियों की समरूप से पूजा करते हैं अर्थात् उत्तम व्यक्ति की अधम के समान पूजा करते हैं एवं अधम व्यक्तियों की उत्तम रूप से पूजा करते हैं वे पूजक इहलोक तथा परलोक में हीनता को प्राप्त होते हैं। ऐसे वचन के अनुसार जब विषम में सम दर्शन करना निषिद्ध हुआ है तब समदर्शन जो लोग करते हैं वे लोग पंडित कैसे होंगे अर्थात् समदर्शी लोग क्यों पाप के भागी नहीं होंगे ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] इह एव—इस जीवित अवस्था में ही तैः सर्गः जितः—[जिसका सर्जन (निर्माण) हो वह सर्ग है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार सर्ग का अर्थ संसार है] उनके द्वारा सर्ग अर्थात् संसार जित लिया गया है अर्थात् निरस्त कर दिया गया है। किनके द्वारा ? येषां मनः साम्ये स्थितम्—जिनका मन समत्व में स्थित है। उसका हेतु कहा जा रहा है—हि—चूँकि ब्रह्म समं निर्दोषं च—ब्रह्म सम एवं निर्दोष हैं। तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः—उस कारण से वे समदर्शी पुरुष ब्रह्म में ही अवस्थान करते हैं अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं। अतः गौतमोक्त दोष ब्रह्मभाव प्राप्ति की पूर्वावस्था में ही होता है। गौतम भी 'पूजातः' शब्द के द्वारा पूजकावस्था को लक्ष्य कर ही वैसा वाक्य कहे हैं। [ब्रह्मभाव प्राप्त होने के पश्चात् पूजक, पूज्य एवं पूजा सब एक हो जाते हैं क्योंकि उसी अवस्था में किसी प्रकार की द्वैतबुद्धि नहीं रहती है।]

(३) शंकरानन्द—सदा सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हुए जो ब्रह्मरूप से स्थित रहते हैं उनकी ही विदेहमुक्ति होती है, दूसरों की नहीं, इसे सूचित करने के लिए ब्रह्मनिष्ठ यतियों की जीवितावस्था में ही मुक्ति होती है वह दिखा रहे हैं—

येषां साम्ये मनः स्थितम्—पर तथा अवर के एकत्वविज्ञान जिन लोगों को हुआ है एवं १७ वें श्लोक में उक्त तद्बुद्धित्वादि अन्तरंग साधन-सम्पत्ति जिन लोगों की है ऐसे सर्वकर्मसंन्यासी सभी ब्रह्मज्ञानी पुरुषों का मन सर्वदा साम्य में (सम ही साम्य है—सम स्वार्थ में ष्यञ् प्रत्यय कर साम्य शब्द की निष्पत्ति हुई है) अर्थात् समरस परब्रह्म में ही स्थित (निश्चल) रहता है ! इस प्रकार जो लोग सर्वत्र ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं, तदात्मा (ब्रह्मस्वरूपता) प्राप्त होते हैं, ब्रह्म में ही निष्ठा रखते हैं एवं ब्रह्म ही आत्मा (मैं) है ऐसी वृत्ति से काल को व्यतीत करते हैं तैः—ऐसे लक्षणों से विशिष्ट ब्रह्मज्ञानियों से इह एव—जीवित अवस्था में ही सर्गः—

जन्म अर्थात् भविष्यत् देह के साथ सम्बन्ध जितः—निर्जित (परिहृत) होता है अर्थात् भावी जनममरण का चक्र निश्चयरूप से परिहार (परित्याग) करने में वे लोग समर्थ होते हैं। अविद्या, काम तथा कर्म शरीर का आरम्भक है अर्थात् अविद्या, काम तथा कर्म ये तीन रहने से ही शरीर की उत्पत्ति सम्भव है। अद्वितीय ब्रह्म में वासना या अज्ञान के द्वारा ही अद्वितीय ब्रह्म में जगत् बुद्धि एवं देहादि में 'मैं, मेरा' बुद्धि सम्पादित होती है। अविद्या ही काम का मूल कारण है एवं इस काम का कार्य है कर्म (और सकाम कर्म होने से ही उसके फल भोग के लिए शरीर ग्रहण अवश्य ही करना पड़ता है)। वे अविद्या, काम तथा कर्म जब नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा से निःशेष विनष्ट हो जाते हैं तब 'कारणनाशात् कार्यनाशः' (कारण का नाश होने से कार्य का भी नाश होता है) इस नियम के अनुसार उनके कार्यभूत भावी देह के साथ सम्बन्ध का भी नाश हो जाता है। इसलिए कहा गया है कि 'इहैव तैर्जितः सर्गः' (इस जीवन में ही वे जनममरणरूप संसार को जित लिये हैं)।

शंका—किन्तु ब्रह्मज्ञानियों का किसी प्रकार की बाह्य वस्तु के आलम्बन (आश्रय) के विना सर्वदा ब्रह्म में ही ब्रह्मात्मभाव से अवस्थान करना कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि उनका मन अत्यन्त निर्मल होने के कारण, ब्रह्मसुख की अनुभूति का रसिक होने के कारण एवं जो पुण्यसम्पत्ति रहने से जैसी ब्रह्मनिष्ठा सम्पादित होती है वह पुण्यसम्पत्ति उनमें रहने के कारण, उनकी सदानन्दैकरस ब्रह्म में (निरन्तर) स्थिति सम्भव है, इसे ही सूचित करने के लिए ब्रह्म की आनन्दरूपता का प्रतिपादन करते हैं—हि—चूँकि ब्रह्म निर्दोषं—ब्रह्म निर्दोष है। दोष शब्द के द्वारा यहाँ दोष के कार्य दुःख को लक्ष्य किया जा रहा है। अतः 'ब्रह्म निर्दोष है' इसका अर्थ है–ब्रह्म दुःख के लेश से रहित, आनन्दरूप है। श्रुति में भी ब्रह्म का ऐसा ही वर्णन किया गया है, यथा 'आनन्दो ब्रह्म' (ब्रह्म आनन्दस्वरूप है,) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, 'स्वप्रकाशमानन्दघनम्' (ब्रह्म स्वप्रकाश तथा आनन्दघन है)।

शंका—किन्तु ब्रह्म स्वरूपतः आनन्दरूप होने पर भी अनृत (मिथ्या) जड़ एवं दुःखात्मक प्रपंच के साथ उनका सम्बन्ध रहना सम्भव है, अतः उनके कहीं दुःख के लेश का संबन्ध भी हो सकता है ?

समाधान—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (यह द्वैत अर्थात् दृश्यपदार्थ मायामात्र है क्योंकि ब्रह्म को छोड़कर

अन्य सब कुछ असत् अर्थात् मिथ्या है), 'न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयः' (द्वैत की सिद्धि हो ही नहीं सकती है, एकमात्र अद्वितीय आत्मा ही सिद्ध है), 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय परब्रह्म हैं), 'अद्वयो ह्ययमात्मैकल एव, (अद्वय यह आत्मा एकाकी है) इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा जगत् के स्वरूप का असत्त्व एवं ब्रह्म का अद्वितीयत्व नियमपूर्वक प्रतिपादित हुआ है। अतः मरुभूमि में मरीचिका की भ्रान्ति होने से जिस प्रकार मरुभूमि का जल से वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार ब्रह्म का मिथ्याभूत प्रपंच के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहने के कारण ब्रह्म का सदा सर्वत्र एक-रसत्व ही है, यह समझाने के लिए कह रहे हैं—**समं**—परब्रह्म सर्वत्र समही है अर्थात् सच्चिदानन्दमात्र एकरस ही हैं। 'सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एकरसः' (वे सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन एकरस हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्यों के द्वारा ब्रह्म सदा एकस्वभात्र हैं यह प्रतिपादित हुआ है। 'ब्रह्म समरस, लवण-पिंड के समान' ऐसी युक्ति से भी यही प्रतिपादित हो रहा है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय आदि भेदों से रहित है। इसलिए परब्रह्म सदा आनन्दैकरस ही हैं—अविद्या एवं अविद्या का कार्य, धर्म तथा कर्म के साथ उनका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। **तस्मात् ते ब्रह्मणि स्थिताः**—अतः ब्रह्मविदों का मन ब्रह्मानन्द के अमृतरस के आस्वाद से आसक्त होकर ब्रह्म में ही स्थित (स्थिर या निश्चल) रहता है। इस प्रकार सदा आनन्दघन ब्रह्म में जिन ब्रह्मविद् यतियों का मन स्थिर रहता है वे ही विदेहमुक्ति को प्राप्त होते हैं। यह सिद्ध हुआ।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि पंडितलोग सर्वत्र समदर्शी होते हैं। अब प्रश्न है—'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' अर्थात् समान गुण विशिष्ट दो ब्राह्मणों को वस्त्र, अलंकार, दान आदि करते समय यदि पक्षपातित्त्व (असम व्यवहार) किया जाय और दो ब्राह्मणों में एक व्यक्ति यदि वेदज्ञ शुद्धाचारी हो एवं दूसरा मूर्ख आचारभ्रष्ट हो तब भी यदि उनकी समानरूप से दान या पूजा की जाय तब वैसा पूजक धर्मभ्रष्ट होता है एवं उसका अन्न अभोज्य होता है। इस प्रकार गौतमऋषि का (स्मृतिशास्त्र का) अनुशासन रहने के कारण समदर्शी को पंडित (अर्थात् ब्रह्मज्ञ जीवन्मुक्त पुरुष) कैसे कहा जाय ? उत्तर—विश्वप्रपंच के सर्वत्र नाम तथा रूप में भेद है, अतः नाम, रूप, गुण इत्यादि में जब दृष्टि रहती है तब विश्वप्रपंच सर्वत्र विषम है किन्तु अस्ति-भाति-प्रिय रूप से [सच्चिदानन्द—स्वरूपसे अर्थात् ब्रह्मरूप से) सभी वस्तु में एक साम्य (समता) है क्योंकि ब्रह्म सम

तथा एक है। जब सर्वत्र ब्रह्म सम है तब उससे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं रहने के कारण ब्रह्म को दोषयुक्त करने वाली भी कोई वस्तु नहीं है। अतः ब्रह्म निर्दोष हैं। ऐसे निर्दोष सम ब्रह्म में जो लोग स्थित रहते हैं उनका प्राण-वियोग के बाद और (पुनः) देहादि के साथ संयोग नहीं रहता है अर्थात् जन्ममरणरूप संसार को वे लोग प्राप्त नहीं होते हैं। यदि कहा जाय कि नाम, रूप, गुण, क्रिया इत्यादि के द्वारा ब्रह्म दोषयुक्त हो सकता है तब इसके उत्तर में कहा जायगा कि (१) वह नामरूप इत्यादि ब्रह्म में मन के द्वारा कल्पित होता है, इसलिए वे मिथ्या हैं अर्थात् वाक्य के विलास मात्र है। श्रुति में भी कहा गया है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं' (छा० उ०)। मिथ्या (कल्पित) वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक् नहीं है। अतः पारमार्थिक दृष्टि में वे सब ब्रह्म ही हैं (२) श्रुति का असंख्यवाक्य यही प्रतिपादित करता है कि ब्रह्मस्वरूप आत्मा पूर्ण, सर्वव्यापी तथा अविकारी (अपरिच्छिन्न) हैं। जब अपरिच्छिन्न भौतिक आकाश को किसी वस्तु का गुण-दोष स्पर्श (लिप्त) नहीं कर सकता है तब पूर्ण नित्य ब्रह्म को (जो आकाश का अधिष्ठान है उस ब्रह्म को) गुण-दोष कैसे कलुषित करेगा? जबतक देहात्मबोध एवं कर्तृत्वाभिमान रहता है तबतक ही शास्त्र के अनुशासन की (यह करना चाहिए, यह करना नहीं चाहिए, यह दोषयुक्त है, यह गुणयुक्त है इत्यादि वाक्यों को) सार्थकता रहती है। उक्त गौतम ऋषि का वचन वैसे अज्ञानी, कर्तृत्वाभिमानी गृहस्थ कर्मियों को लक्ष्य करके ही कहा गया है। 'यह अन्न भोज्य है, यह अन्न अभोज्य है, यह शुचि है, यह अशुचि है' ऐसी भावनाएँ जो ब्रह्मविद् सर्व प्रपंच को मिथ्या एवं सम ब्रह्म को ही एकमात्र सत्यवस्तु जानकर सर्वभेदबुद्धि से विनिर्मुक्त हुए हैं उनके लिए सम्भव नहीं हैं। तब भी ऐसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष प्रायशः लोक शिक्षा के लिए शास्त्र-मर्यादा का विरोधी आचरण नहीं करते हैं। किन्तु यदि कभी शुचि तथा अशुचि का भेदव्यवहार उनमें न रहे तब भी वे दोषयुक्त नहीं होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि संसारी अज्ञानी देहात्मबुद्धिसम्पन्न व्यक्ति के लिये ही स्मृतिशास्त्र आदि का अनुशासन है, जीवन्मुक्त पुरुष के लिए नहीं।

[पूर्ववर्ती श्लोक में ब्रह्म सम तथा निर्दोष है यह कहा गया है। जो लोग उस सम निर्दोष ब्रह्म को आत्मा के रूप से साक्षात्कार कर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं उनका लक्षण क्या है? वही अब कहा जा रहा है ताकि मुमुक्षु व्यक्ति उन लक्षणों से विशिष्ट होने के लिए प्रयत्न कर सके—]

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥

अन्वयः—स्थिरबुद्धिः असंमूढः ब्रह्मणि स्थितः ब्रह्मवित् प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत् (तथा) अप्रियं च प्राप्य न उद्विजेत् ।

अनुवाद—जो ब्रह्मज्ञ पुरुष स्थिरबुद्धि है एवं सम्यक् प्रकार से मोह-शून्य होकर परब्रह्म में स्थित है वह प्रियवस्तु (इष्टवस्तु) को प्राप्त कर प्रहृष्ट (आनन्दित) नहीं होता है एवं अप्रिय (अनिष्ट) को प्राप्त कर उद्विग्न (दुःखी) भी नहीं होता है ।

भाष्यदीपिका—स्थिरबुद्धिः—सभी प्राणियों में ही एक एवं सम निर्दोष आत्मा है अर्थात् आत्मा किसी प्रकार के दोष के द्वारा संसृष्ट (लिप्त) नहीं होती हैं, ऐसी स्थिर अर्थात् संशयहीन (निश्चितता अथवा निश्चल) बुद्धि जिसमें है उसे स्थिरबुद्धि कहा जाता है । संन्यास अवलम्बनपूर्वक वेदान्त वाक्य के श्रवण तथा मनन की (विचार को) परिपक्वता के फलस्वरूप से ही ऐसी निश्चला बुद्धि होती है । ज्ञान का प्रतिबन्धक दो हैं—(क) असम्भावना एवं (ख) विपरीतभावना । दृश्य पदार्थों में एक सम एवं अविकारी चैतन्यस्वरूप ब्रह्म (आत्मा) ही सत्य है, यह मूढ़व्यक्तियों को असम्भव प्रतीत होने पर भी वेदान्त वाक्य के श्रवण तथा मनन के द्वारा निश्चिता बुद्धि प्राप्त होने पर असम्भावना—की निवृत्ति होती है । किन्तु नामरूपात्मक जगत् सत्य है—यह बुद्धि रहने के कारण अर्थात् विपरीत भावनारूप प्रतिबन्धक विद्यमान रहने के कारण आत्मसाक्षात्कार नहीं होता है । इस प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए निदिध्यासन का प्रयोजन है किन्तु संमोह या अज्ञान वृत्ति जब तक रहती है तब तक निदिध्यासन सम्भव नहीं है, इसलिये कहा जा रहा है—

असंमूढः—संमोहरहित अर्थात् अज्ञानवर्जित [जगत् की सत्यत्वबुद्धि दृढ़ रहने के कारण ब्रह्म व्यतिरिक्त विजातीय (जागतिक वस्तुविषयक) प्रत्यय (ज्ञान धारा) जब चलती रहती है तब मिथ्या या विपरीत वस्तु को ही बुद्धि ग्रहण करती है, इसे संमोह कहा जाता है । और जब निदिध्यासन (समाधि) के द्वारा ब्रह्माकारावृत्ति का प्रवाह विपरीत प्रत्यय के द्वारा व्यवहित (बाधा प्राप्त) नहीं होता है एवं उस ब्रह्माकारावृत्ति का प्रवाह परिपक्वता प्राप्त कर निरवच्छिन्न रूप से अर्थात् निरन्तर चलता रहता है तब विपरीत भावना-रूप संमोह दूर हो जाता है एवं योगी असंमूढ़ होता है । (मधुसूदन)] ।

इस प्रकार से ज्ञान के सभी प्रकार का प्रतिबन्धक जब अपगत (दूर) होता है तब वह—

ब्रह्मवित्—सर्वदोषरहित अखंडाद्वय चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप आत्मा को साक्षात्कार कर ('अहं ब्रह्मास्मि' ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव कर) ब्रह्मवित् होते हैं। ब्रह्मवित् होकर समाधि की परिपक्वता लाभ कर ब्रह्मणि स्थितः—एकमात्र निर्दोष सम ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है एवं सर्वकर्मसंन्यास (त्याग) कर 'अकर्मकृत्' होकर जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ होता है। ऐसे व्यक्ति का द्वैतदर्शन अर्थात् भेदज्ञान नहीं रहने के कारण उसको प्रियाप्रिय बुद्धि एवं तज्जनित हर्ष-विषाद प्राप्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती है, इसलिए कह रहे हैं—

प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्—(उक्त स्थिरबुद्धि, असम्मूढ़, ब्रह्मवित् एवं निर्दोष सम आत्मस्वरूप ब्रह्म में स्थित पुरुष) प्रिय अर्थात् इष्ट लाभ कर प्रहृष्ट नहीं होते हैं।

अप्रियं च प्राप्य न उद्विजेत्—और अप्रिय (अनिष्ट) वस्तु प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होते हैं। जो लोग शरीर में ही आत्माभिमान करते हैं उनकी प्रिय तथा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति क्रमशः हर्ष तथा विषाद का कारण होती है। किन्तु एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म को ही आत्मरूप से (एवं सर्वरूप से) दर्शन करना जिनका स्वभावसिद्ध हो गया है उनको आत्मव्यतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु की प्रतीति नहीं होने के कारण उनको प्रियत्व (इष्टत्व) तथा अप्रियत्व (अनिष्टत्व) बुद्धि नहीं रहती है, अतः उनका हर्ष तथा विषाद का कारण भी कुछ नहीं रह सकता [क्योंकि प्रिय (शरीरादि के अनुकूल) एवं अप्रिय (प्रतिकूल) सभी वस्तु में वे एकमात्र सम ब्रह्म का ही दर्शन करते हैं। इस श्लोक के प्रथम अंश का तात्पर्य 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः' (२।५६) इत्यादि श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। जीवन्मुक्त व्यक्तियों का जो स्वाभाविक आचरण है वही मुमुक्षु को प्रयत्नपूर्वक (अभ्यास द्वारा) अनुष्ठान करना कर्तव्य है। इसलिये इस श्लोक में 'प्रहृष्येत्' तथा 'उद्विजेत्' इन दोनों स्थानों में विधिलिङ् विभक्ति का प्रयोग किया गया है। जो मुमुक्षु साधक हैं उनकी द्वैतदृष्टि विद्यमान रहने पर भी विषय-दोष-दर्शनादि के द्वारा उनको हर्ष तथा विषाद का परित्याग करना पड़ेगा, यही 'प्रहृष्येत्' एवं 'उद्विजेत्' शब्दों से कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[ब्रह्मभावप्राप्त व्यक्ति का लक्षण कहा जा रहा है—] ब्रह्मवित्—ब्रह्मज्ञ होकर जो ब्रह्म में ही स्थित रहता है वह यति

प्रियं प्राप्य न प्रहृष्येत्–प्रियवस्तु प्राप्त होकर प्रकृष्टरूप से हर्षवान् (हर्षयुक्त) नहीं होता है **अप्रियं च प्राप्य न उद्विजेत्**—और अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके भी उद्विग्न अर्थात् विषण्ण नहीं होते हैं। उसका कारण यह है कि वे **स्थिर-बुद्धिः**—उनकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् निश्चला है। वह किस प्रकार ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा रहा है—चूँकि वह **असंमूढः**—निवृत्तमोह (मूढ़ता से रहित) होकर **ब्रह्मणि स्थितः भवति**—ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करते हैं। [मोह नहीं रहने पर अर्थात् अनात्मदेहादि में आत्मबुद्धि न रहने पर बुद्धि ब्रह्मस्वरूप आत्मा में निश्चला (स्थिर) होती है अर्थात् असंमूढ़ या निवृत्त मोह होने पर स्थिर बुद्धि होती है। स्थिर बुद्धि होने पर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म में निरन्तर स्थितिलाभ होता है। इस प्रकार सम ब्रह्म में स्थिति होने पर (द्वैतदर्शन के अभाव के कारण) प्रिय वस्तु की प्राप्ति से हर्ष एवं अप्रिय वस्तु की प्राप्ति से विषाद होना सम्भव नहीं है, यही कहने का अभिप्राय है।]

(२) **शंकरानन्द**—जो विदेह मुक्ति की कामना करते हैं एवं सब कुछ त्याग कर जो सर्वदा ब्रह्म में ही ('मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार से) अवस्थान करते हैं उन यति की सम्पूर्ण वासनाओं का क्षय हो जाता है, सम्पूर्ण कामों से मुक्ति होती है एवं सभी कर्मों का विलय (नाश) हो जाता है। यह तीनों भावी जन्म का हेतु (कारणरूप) है। किन्तु ब्रह्मनिष्ठ यति की इन तीन **अनिष्टों की निवृत्ति**—होती है; फिर उनकी जीवित अवस्था में ही दृष्टदुःख की अनुपलब्धि, सदानन्द का अनुभव एवं विदेह-कैवल्य की प्राप्ति इन तीनों **इष्टों की प्राप्ति**—होती है। एवं इस प्रकार से उनका पुरुषार्थ सिद्ध होता है। अतः जो वेदान्तश्रवणादि के द्वारा सम्यक्-प्रकार से आत्मतत्त्व को विदित हुए हैं ऐसे ऐसे मुमुक्षु यति को ब्रह्मनिष्ठ होना अवश्य कर्तव्य है, इसे सूचित करने के लिए ब्रह्मयोगाभ्यासकारी का कर्तव्य क्या है वह कह रहे हैं—

ब्रह्मणि स्थितः—ब्रह्म में अर्थात् सर्वत्र ब्रह्ममात्रदर्शनरूप समाधि में स्थित (प्रवृत्त) **ब्रह्मवित्**—ब्रह्मज्ञानी यति **प्रियं प्राप्य**—स्वयं भिक्षाटन आदि में प्रयत्न के बिना प्रारब्धवश से प्राप्त प्रिय (इष्ट) वस्तु, वचन अथवा पूजादि रूप कर्मों को प्राप्त होकर, वह सुनकर, देखकर या स्पर्श कर रम्यत्व-बुद्धि से **न प्रहृष्येत्**–प्रहर्ष नहीं करते हैं। प्रहर्ष अनात्मा का (अन्तःकरण का) धर्म है। प्रहर्ष होने से समझना पड़ेगा कि अपने अनात्मदेहादि के साथ तादात्म्यबुद्धिवशतः (आत्मा में) असत् का आरोपण किया गया है। वस्तु के

नामरूप तथा गुणविशेष के विचार के विना समीचीनत्व बुद्धि एवं इष्टताबुद्धि की उत्पत्ति नही होती है। पुनः समीचीनत्व बुद्धि के विना प्रहर्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रहर्ष की उत्पत्ति द्रष्टा में अर्थात् भोक्ता में आत्मत्वाभिनिवेश के विना सम्भव नहीं होती। इसलिए पदार्थ का विचार (चिंतन) अनर्थ का कारण होता है क्योंकि पदार्थ का ध्यान होने से ही पदार्थ में रम्यताबुद्धि तथा इष्टताबुद्धि होती है। अतः प्रत्यक् दृष्टि (सर्वत्र ब्रह्मदर्शन) का त्याग कर पदार्थ का विमर्शन (विचार), रम्यताबुद्धि, इष्टताबुद्धि एवं प्रहर्ष (हर्ष या आनन्द) बोध ब्रह्मवित् कभी भी न करें, किन्तु सर्वत्र प्रत्यग् दृष्टि से ही (ब्रह्मदृष्टि अवलम्बन करके ही) स्थित रहें—यही कहने का अभिप्राय है।

अप्रियं प्राप्य न उद्विजेत्—पुनः अप्रिय (अनिष्ट) को अर्थात् आध्यात्मिक, ज्वर आदि, आधिभौतिक साँप, चोर आदि, आधिदैविक आदि अनर्थों के कारणों को प्राप्त कर उद्वेग अर्थात् चांचल्य, अधैर्य तथा भय से अभिभूत न हो। 'हाय, मैं मारा गया' ऐसा आर्तनाद कर उन औपाधिक अनर्थों को आत्मा में आरोप न करें अर्थात् अपरा को (आत्मा को) उन अनर्थों का विषय न होने दें। किन्तु जो भवितव्य है वह होगा ही ऐसी दृढ़ बुद्धि से (सुख दुःख इत्यादि) उपाधि को प्रारब्ध में समर्पण कर स्वयं सर्वोपाधि के अविषयीभूत होकर निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप में ही स्थित रहे। स्वदृष्टि से जो स्थित रहते हैं अर्थात् सर्वदा अपना ही (आत्मा का ही) जो दर्शन करते हैं उनकी मुक्ति नष्ट नहीं होती किन्तु जो बाह्यदृष्टि से स्थित रहते हैं (अर्थात् जो बाह्य विषयों में आसक्त रहते हैं) उनकी उपाधि का नाश नहीं होता है। अतः उनकी मुक्ति का नाश हो जाता है। इस कारण से प्रत्यग दृष्टि (आत्मदर्शन) का त्याग कर बाह्यविषयों का ग्रहण, उन बाह्य विषयों में इष्टता बुद्धि, एवं अपने को उस अनर्थ के विषय के रूप से स्वीकार एवं उससे उत्पन्न उद्वेग—ये सब विद्वान् व्यक्ति कभी भी न करे, यही कहने का अभिप्राय है। प्रश्न है—इष्ट तथा अनिष्ट प्राप्त होने पर प्रहर्ष तथा उद्वेग न कर कैसे स्थित होना चाहिए ? इसके उत्तर में कह रहे हैं–असंमूढ़ः—(वस्तु के यथार्थ रूप को ग्रहण करने में असमर्थ होकर) जो व्यक्ति विपरीत ग्रहण करता है उसे 'संमूढ़' कहा जाता है। ऐसे संमूढ़ से विलक्षण समदर्शी ही असंमूढ़ हैं। ब्रह्मवित्—एवं ब्रह्म में ही जो आत्मप्रत्यय (बुद्धि) करते हैं ऐसे ब्रह्मनिष्ठ स्थिरबुद्धिः—स्थिर अर्थात् अपनी ब्रह्माकारिता को त्याग न कर जिनकी बुद्धि सदा निश्चल रहती है वे स्थिरबुद्धि हैं। असंमूढ़ ब्रह्मनिष्ठ पुरुष स्थिरबुद्धि

होकर ब्रह्मणि स्थितः (भवेत्)—ब्रह्म में ही स्थित रहे हैं अर्थात् अपने को एवं सभी को ब्रह्ममात्र दर्शन करता हुआ स्थित होवे।

(३) नारायणी टीका—१७ से २० श्लोक तक तीन श्लोकों में विदेह मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है वह कहा जा रहा है। विदेह मुक्ति प्राप्त करने के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता होती है—

(क) तत्त्वज्ञान में निष्ठा
(ख) वासनाक्षय तथा

(ग) मनोनाश। १७वें श्लोक में यति को सर्वत्र समदर्शन (तत्त्वज्ञान) के द्वारा अखंडाद्वय में निष्ठा लाभ करना होगा, ऐसा कहा गया है १८–१९ श्लोकों में जो निर्दोष समब्रह्म का सर्वत्र दर्शन करते है एवं उनमें ही निरन्तर स्थित रहते हैं वे मुक्त होते हैं, ऐसा कहा गया है। उसके द्वारा वासना क्षय की सूचना दी गयी है क्योंकि द्वैत (भेद) प्रतीति जिनकी नहीं है उनमें विषयवासना कैसे रह सकती है ? २० वें श्लोक में प्रियवस्तु की प्राप्ति में प्रहर्ष तथा अप्रिय वस्तु की प्राप्ति में उद्वेग न रहना चाहिए ऐसा कहकर ज्ञानी व्यक्ति का (जीवन्मुक्त पुरुष का) मनोनाश सूचित हो रहा है, क्योंकि प्रहर्ष एवं उद्वेग अर्थात् राग तथा द्वेष मन का (अन्तःकरण का) धर्म है। 'स्थिरबुद्धिः' (ब्रह्म में निश्चला बुद्धि), असम्मूढः (अनित्य देहादि में आत्मबुद्धिरूप मोह से रहित), 'ब्रह्मणि स्थितः' (ब्राह्मीस्थिति) इत्यादि शब्दों के द्वारा ब्रह्मविद् का जो क्रम से मनोनाश होता है वही स्पष्ट कर यहाँ कहा गया है।

[सभी प्राणी विषयों से सुख प्राप्त करता है, अतः शब्द आदि विषयों के लिए उनकी प्रीति स्वाभाविक है। किन्तु विषय के प्रति वैराग्य न होने पर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ब्रह्म स्वरूप में स्थिति होना सम्भव नहीं है— यह कहा गया है। अतः प्रश्न है विषय-प्रीतिरूप स्वाभाविक प्रतिवन्ध विघ्न रहते हुए पूर्वश्लोकोक्त ब्राह्मीस्थिति किस प्रकार सम्भव है ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि आत्मा या ब्रह्म निरतिशय एवं अक्षय आनन्दस्वरूप है। अतः जो लोग श्रवण मनन पूर्वक विषयों का दोषदर्शन कर विषयों से विरत होकर समाधि योग से आत्मस्वरूप ब्रह्म का संस्पर्श प्राप्त करते हैं (गीता ६।२८) उनके निकट विषय सुख अति तुच्छ प्रतीत होता है एवं उनकी विषय के प्रति आसक्ति भी नष्ट हो जाती है।]

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥

अन्वयः—बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा आत्मनि यत् सुखं विन्दति सः ब्रह्मयोग-युक्तात्मा अक्षयम् सुखम् अश्नुते ।

अनुवाद—बाह्य विषय समूहों में जिसका मन आसक्त नहीं है ऐसा पुरुष आत्मा में जो सुख विद्यमान है उसे (अर्थात् आत्मसाक्षात्कारजनित सुख का) अनुभव करता है और वह पुरुष ब्रह्मयोग युक्तात्मा होने पर [अर्थात् उस पुरुष का अन्तःकरण ब्रह्म (आत्म) विषयक योग में अर्थात् समाधि में युक्त होने पर] अक्षय सुख प्राप्त करता है ।

भाष्यदीपिका–बाह्यस्पर्शेषु–बाहर के शब्दादि भोग्य विषय समूहों में 'स्पर्शाः' शब्द का अर्थ है—'स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः शब्दादयः विषयाः' अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा जिनका स्पर्श ग्रहण किया जाता है उन शब्दादि विषयों को 'स्पर्श' कहा जाता है। स्पर्श शब्दादि विषय 'बाह्य' हैं क्योंकि वे अनात्मा इन्द्रियादि के धर्म के कारण आत्मा के दृश्य रूप से आत्मा से पृथक् रहते हैं। इन बाह्य विषयों में असक्तात्मा—जो आसक्ति रहित है [विषय तुच्छ एवं बन्धन के हेतु है ऐसा निश्चय कर जिसकी आत्मा (अन्तः करण) अनासक्त है अर्थात् विषयों में प्रतिवर्जित (तृष्णाशून्य) होकर पूर्ण वैराग्यवान् हुई है] ऐसा व्यक्ति।

आत्मनि यत् सुखं—आत्मा में जो विषय निरपेक्ष उपशमात्मक सुख स्वतः ही विद्यमान है वह सुख अर्थात् आत्मसाक्षात्कारजनित सुख (मधुसूदन) विन्दति—प्राप्त करता है। विषयतृष्णा से रहित होने पर निर्मल सत्त्ववृत्ति का प्रकाश होता है एवं उसमें (उस सत्त्ववृत्ति में) ऐसा एक प्रकार का सुख का प्रकाश होता है जो किसी बाह्य विषय की अपेक्षा नहीं रखता है। उस सुख को समाधिस्थ यति ही प्राप्त कर सकता है। आत्मा के स्वरूपभूत सुखको उत्पन्न करना नहीं पड़ता है क्योंकि यह स्वतःसिद्ध है। काम या विषयासक्ति उसे आवृत करके रखती है। जैसे जैसे विषयासक्ति का ह्रास प्राप्त होता है वैसे-वैसे आत्मा स्वरूपभूत अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता रहता है अर्थात् सभी प्रकार की विषयासक्ति से रहित होकर किसी बाह्य विषय की अपेक्षा न रखने पर आत्मा के स्वरूपभूत सुख का स्वतः ही आविर्भाव होता है। महाभारत में कहा गया है—'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयं सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ।' अर्थात् इहलोक में सभी कामना पूर्ण होने पर जो सुख होता है एवं परलोक में दिव्य अर्थात् स्वर्गीय जो महत् (विपुल) सुख है उन्हें एकत्रित करने पर भी विषयतृष्णा रहित होने पर जो (विषय निरपेक्ष) सुख (आत्मानन्द)

प्राप्त होता है उसके सोलह भाग के एक भाग का भी बराबर नहीं होता है। अथवा सुषुप्ति में अन्तःकरण सभी प्रकार की वासना से शून्य होकर उपशान्त होने पर विषय के साथ कोई सम्बन्ध न रखकर ही सुप्त व्यक्ति अपूर्व सुख का अनुभव करता है। इसका कारण यह है कि उस समय अन्तःकरण का आत्मा में लय हो जाता है एवं बाह्यविषयासक्तिरूप कोई प्रतिबन्धक नहीं रहने के कारण आत्मा का स्वरूपभूत जो सुख है उसे ही सुप्त व्यक्ति अनुभव करते रहते हैं। इसलिए गहरी नींद के बाद सुप्तोत्थित व्यक्ति में निर्मल आनन्दानुभवजनित प्रसन्नता देखी जाती है। जाग्रदवस्था में भी अन्तःकरण सभी प्रकार से विषयवासनारहित होने पर आत्मा में ही समाहित होता है एवं तब आत्म-स्वरूपभूत अजस्र सुख (परमानन्द) का अनुभव होता रहता है। यही 'विन्दति' शब्द का तात्पर्य है।

सः—वह तृष्णाशून्य व्यक्ति ब्रह्मयोगयुक्तात्मा—(नाम रूप ग्रहण न कर चिदाकारावृत्ति के द्वारा बाहर तथा भीतर सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शन कर) ब्रह्म में (परमात्मा में) जो योग (समाधि) प्राप्त होता है उसके द्वारा युक्त (समाहित) अथवा व्यापृत हुई है आत्मा (अन्तःकरण) जिसकी उसे ब्रह्म-योगयुक्तात्मा कहा जाता है [अर्थात् व्युत्थान एवं समाधि अवस्था में सर्वदा एवं सर्वत्र परिपूर्ण आनन्दैकरस ब्रह्म को ही अनुभव करने में जिसकी आत्मा (अन्तःकरण) युक्त या व्यापृत रहती है उसे ब्रह्मयोगयुक्तात्मा कहा जाता है]। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इस शब्द का दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है—ब्रह्मणि—अर्थात् तत्पदार्थ में (प्रत्यगात्मा में) योगेन अर्थात् तत्त्वमसि (तुम ही वह ब्रह्म हो) इस वाक्य का अर्थ अनुभव कर चित्त को एकाग्र कर जो समाधि या समाहित अवस्था की प्राप्ति होती है उसके द्वारा युक्त अर्थात् ऐक्य प्राप्त हुई है आत्मा (अर्थात् त्वं पदार्थरूप आत्मा) जिसकी वह ब्रह्मयोगयुक्तात्मा है। उसका क्या होता है वही अब कहा जा रहा है—अक्षयं सुखम् अश्नुते—वह अपने स्वरूपभूत अक्षय अर्थात् अविच्छिन्न एवं अनन्त (देश काल वस्तु के द्वारा अपरिच्छिन्न) सुख प्राप्त होता है। [वह आत्मभूत अक्षय सुख का अनुभव करता हुआ सर्वदा सुखानुभवस्वरूप (आनन्दस्वरूप) ही हो जाता हैं (मधुसूदन)]। बाह्यविषयसे जो प्रीति या सुख प्राप्त होता है वह क्षणिक है। अतः जो आत्मा में स्थित अक्षय सुख को अनुभव करने की कामना करते हैं वे बाह्यविषयों से इन्द्रियों को अवश्य निवृत्त करेंगे, क्योंकि तभी ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करना सम्भव होता है। (मधुसूदन)]

अक्षयसुखस्वरूप वस्तु (आत्मा) नित्य प्राप्त है। अविद्यारूप आवरण रहने के कारण ही प्रतिजीव का आत्मस्वरूपभूत सुख नित्य विद्यमान रहने पर भी मेघावृत सूर्य के समान प्रकाशित नहीं हो सकता है। अविद्या की निवृत्ति होने से ही स्वतःसिद्ध अक्षय सुख का अनुभव होता है।

अतः (जिस प्रकार बादल हट जाने से कहा जाता है कि 'सूर्य प्रकाशित हुआ' उस प्रकार) 'अश्नुते' (प्राप्त होता है) शब्द का यहाँ औपचारिक प्रयोग हुआ है अर्थात् अविद्या की निवृत्ति लक्ष्य करके ही (अविद्या की निवृत्ति द्वारा ही अक्षय सुख अर्थात् परमानन्दस्वरूप आत्मा अभिव्यक्त प्रकट होती है इस अर्थ में) 'अश्नुते' शब्द का प्रयोग किया गया है (मधुसूदन)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[मोह निवृत्त होने से बुद्धि की स्थिरता कैसे होती है ? वह अब कह रहे हैं–] बाह्यस्पर्शेषु—इन्द्रियों के द्वारा जिनका स्पर्श किया जाय (अर्थात् शब्दादि विषय) उन्हें 'स्पर्श' कहा जाता है। अतः 'बाह्यस्पर्शेषु' शब्द का अर्थ है बाह्य इन्द्रियों के विषय समूहों में असक्तात्मा—अनासक्तचित्त अर्थात् बाह्येन्द्रिय के द्वारा जो विषय उपलब्ध होते हैं उनमें जिसका चित्त आसक्तिशून्य हुआ है ऐसा व्यक्ति आत्मनि—(निर्मल) अन्तःकरण में यत् सुखं—जो उपशमात्मक सात्त्विक सुख है (तत्) विन्दति—उसे प्राप्त करता है। और उस उपशमरूप सुख को प्राप्त कर बाद में ब्रह्मयोगयुक्तात्मा—ब्रह्म में योग के द्वारा (समाधि के द्वारा) युक्त (ऐक्य प्राप्त हुई है) आत्मा जिसकी वह [अर्थात् समाधि के द्वारा जीव तथा ब्रह्म का ऐक्य अनुभव किया है जिस महात्मा ने वह अक्षयं सुखम् अश्नुते—अक्षय सुख को प्राप्त करता है (क्षय रहित ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है)]।

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती श्लोक में 'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य' (प्रिय अर्थात् इष्ट वस्तु को प्राप्त कर हर्ष न करे) ऐसा कहकर विषयसुख का परित्याग करना पड़ेगा, यह सूचित हुआ। किन्तु शंका है कि विषयसुख का परित्याग करने पर ब्रह्मवित् को सुख का अभाव रहने के कारण क्या उन्मत्त के समान उनकी स्थिति निष्फल नहीं होगी ? उत्तर में कहा जायगा—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' (उस रस को अर्थात् आनन्दैकरस परमात्मा को प्राप्त कर यह आनन्दी होता है) इस श्रुति-वाक्य से सिद्ध होता है कि ब्रह्मनिष्ठा में स्थित उस पुरुष को नित्य-निरन्तर निरतिशय ब्रह्मसुख होता है। यही श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

यः—जो आत्मतत्त्वज्ञ स्वयं बाह्यस्पर्शेषु—मूढ़ों के द्वारा आत्मा से पृथक् कल्पित वस्तुओं को 'बाह्य' कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा जिसे स्पर्श किया जाता है अर्थात् ग्रहण किया जाता है उन्हें 'स्पर्श' कहा जाता है अर्थात् शब्दादि विषय। जो बाह्य एवं स्पर्श करने योग्य है उसमें अर्थात् (आत्मा से पृथक्) बाह्य शब्दादि विषयों में एवं उनसे उत्पन्न सुखों में असक्तात्मा—वे सभी तुच्छ (अनित्य, क्षणिक, अल्प) है एवं संसारबन्धन का कारण है ऐसी बुद्धि से असक्त अर्थात् अप्रवृत्त है आत्मा (मन) जिसका वह असक्तात्मा है। ऐसा होकर अर्थात् तीव्रवैराग्य के द्वारा मनसे विषयों का ग्रहण न करता हुआ गुहा में या अन्य किसी एकान्त स्थान में समाहित (समाधिस्थ) होकर आत्मनि—बुद्धि आदि के साक्षी प्रत्यक् आत्मा का साक्षात् करने पर [यहाँ 'आत्मनि साक्षात्कृते सति' ऐसा करना पड़ेगा]। यत्सुखं—उस आत्म-साक्षात्कार से जो सुख उत्पन्न होता है उसका विन्दति—अनुभव करता है सः—वही अर्थात् वह आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष ही ब्रह्मयोगयुक्तात्मा—नामरूप ग्रहण न कर चिदाकारावृत्ति के द्वारा बाहर तथा भीतर सर्वत्र ब्रह्ममात्र दर्शन को 'ब्रह्मयोग' कहा जाता है। ब्रह्मयोग में ही युक्त अर्थात् नियमित है आत्मा (मन) जिसका वह 'ब्रह्मयोगयुक्तात्मा' हैं। ऐसा होकर अर्थात् व्युत्थान तथा अव्युत्थान (व्यवहारिक तथा समाधि) दोनों अवस्थाओं में ही सदा सर्वत्र आनन्दैकरस परिपूर्ण ब्रह्म का ही दर्शन करता हुआ विषयसुख अधिकतर अक्षयं—सदा सर्वदा आनन्दैकरस ब्रह्म हो बुद्धिवृत्ति का विषय होने के कारण विच्छित्तिरहित (अविच्छिन्न) अर्थात् नाशरहित सुखम् अश्नुते—स्वरूपानन्द को भोग करता है। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि गुहा आदि एकान्तस्थान में जो समाधि करते हैं उनको समाधिकाल में ही आत्मानन्द का अनुभव होता है किन्तु सर्वदा एवं सर्वत्र नहीं है। परन्तु जो ब्रह्मयोगयुक्तात्मा हैं उनको तो सदा सर्वत्र ब्रह्मानन्द का अनुभव निरर्गल (बिना रोक टोक के) होता है अर्थात् उस आनन्द का अनुभव कभी विच्छिन्न या प्रसिद्ध (विघ्न प्राप्त) नहीं होता है।

(३) नारायणी टीका—केवल बाह्य विषयों की वासना से रहित होने से ही अक्षय सुख की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि निर्जन स्थान में भी समाधि के अभ्यास के समय अथवा सुषुप्ति अवस्था में भी अन्तःकरण वाह्यविषय वासना से रहित होता है एवं आत्मभूत सुख का भी अनुभव करता है किन्तु सुषुप्ति से उत्थान होने पर अथवा समाधि से व्युत्थान होने पर वह सुख नहीं रहता है इसलिए अक्षय (अविच्छिन्न एवं अनन्त)

सुख प्राप्त करना हो तो 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' होना पड़ेगा। बाह्य विषयों के प्रति अनासक्त रहने पर पहले अपने अन्तःकरण में एक उपशमात्मक सात्त्विक सुख का अनुभव यति (सर्वकर्मसंन्यासी) करता है। किन्तु वह सुख सात्त्विक गुण के अधीन रहता है। तथा गुण का कार्य अस्थायी है, अतः सात्त्विक वृत्ति से उत्पन्न सुख भी स्थायी (अक्षय) नहीं होता है। किन्तु बाह्य विषयों के प्रति वैराग्य से जो सात्त्विक वृत्ति तथा सुख की उत्पत्ति होती है वह चित्त के विक्षेप की बाधक (नाशक) होने के कारण ब्रह्म के साथ समाधि रूप योग के द्वारा युक्त होने में यति के लिए सहायक है। अतः अक्षय सुख (परमानन्द) प्राप्त करने के लिए यति को पहले बाह्यविषयों में असक्तात्मा होना पड़ेगा एवं तत् पश्चात ब्रह्मयोग में युक्तात्मा होना होगा क्योंकि बाह्य विषयों के प्रति आसक्तिहीन होने से ही ब्रह्मयोग युक्तात्मा होना सम्भव है। पुनः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा होकर (ब्रह्म के साथ एकात्मतारूप योग में चित्त निरन्तर युक्त रहकर) अनन्त अक्षय आत्मसुख अनुभव करते रहने पर विषय सुख अत्यन्त तुच्छ हो जाता है। इसलिए बाह्यविषयों के प्रति पुनः कोई आसक्ति (अनुराग) उत्पन्न होना सम्भव नहीं है (गीता ६।२०-२३)। [ब्रह्मानन्द नित्यप्राप्त वस्तु है किन्तु अज्ञानवश विषय सुख के प्रति चित्त धावित होते रहने पर अपना स्वरूपानन्द (जो स्वतः सिद्ध, अक्षय तथा अनन्त है वह) अप्राप्त प्रतीत होता है। ज्ञान द्वारा अज्ञान निवृत्त होने पर एवं आत्मस्वरूप ब्रह्म में समाधि के द्वारा निरन्तर युक्त रहने से ही ब्रह्म और अपनी आत्मा का एकत्व साधित (साक्षात् कृत) होने से ही] ब्रह्मानन्द या स्वरूपानन्द स्वतः ही प्रकट होता है। तब वह 'प्राप्त हुआ है' ऐसा कहा जाता है।

[ज्ञानी और किस कारण से बाह्य विषयों में आसक्तिहीन (बाह्यस्पर्शेषु असक्तात्मा) होते हैं वह अब कहा जा रहा है। (विषयों में दोष दर्शन ही विषय वैराग्य का प्रधान उपाय है अतः विषयों में दोष दर्शन कर इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करना उचित है यही कहने का अभिप्राय है)]।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

अन्वयः—हे कौन्तेय ! ये हि भोगाः संस्पर्शजाः ते दुःखयोनयः एव (तथा) आद्यन्तवन्तः तेषु बुधः न रमते।

अनुवाद—हे कौन्तेय ! विषय के साथ संस्पर्शजनित जो भोग (सुख

भोग) है वह भी (अन्त में) दुःख का ही कारण होता है। पुनः वे सभी आदि तथा अन्त युक्त हैं (अर्थात् उत्पत्ति तथा विनाशशील हैं, अतः अस्थायी है)। इस कारण से पंडित व्यक्ति (विवेकी पुरुष) उन बाह्य विषयो के भोग में प्रीति अनुभव नहीं करते हैं।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय–हे अर्जुन ! तुम्हारी माता कुन्ती संसार में रहते हुए भी कभी भी विषयों में रमण नहीं करती थी क्योंकि उन्होंने जीवन की प्रत्येक घटना से यह अनुभव किया था कि विषयमात्र ही अनित्य तथा दुःखदायक है। इसलिए वह मेरा ही सर्वदा स्मरण करती थी। तुम उसके योग्य पुत्र हो। 'तुम भी विषयों से रिक्त होकर मेरी अनन्य रूप से चिन्ता करने पर मुझमें ही (सर्वात्मा परमेश्वर मे ही) रमण करोगे' इस विषय में कोई सन्देह नही है इसे ही सूचित करने के लिए यहाँ श्रीभगवान् ने 'कौन्तेय' कहकर सम्बोधन किया।

ये हि भोगाः संस्पर्शजाः—चूँकि जो भोग अर्थात् क्षुद्र क्षुद्र सुख का भोग विषय तथा इन्द्रिय के परस्पर संयोग से उत्पन्न होता है ते दुःखयोनयः एव—वे सभी अविद्या के कार्य होने के कारण (राग तथा द्वेष से परिव्याप्त होने के कारण) केवल दुःख के ही योनि (हेतु) होते हैं यह तो प्रत्यक्षरूप से भीं देखा जाता है। आध्यात्मिकादि (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीन प्रकार के) दुःख उन भोगों के निमित्त ही उत्पन्न हैं। (वे भोग ही आधिव्याधिजरामरणादि रूप दुःख के हेतु होते हैं)। जिस प्रकार ये भोग इस लोक में दुःख के हेतु होते हैं उस प्रकार परलोक में भी दुःख के हेतु होते हैं इसे सूचित करने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है।

[इसलिए विष्णुपुराण में कहा गया है 'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः' अर्थात् जीव जितने मन के प्रिय पदार्थ के साथ सम्बन्ध करता है उसका हृदय उतने ही दुःख के शंकु से (दुःख के शेल से) विद्ध होता है (मधुसूदन) मधुसूदन सरस्वती ने विषय का समुदय भोग 'दुःखयोनयः' (दुःख के हेतु) क्यों होते हैं ? उसे 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पा० द० २।१५) इस पातंजल योग सूत्र का एवं अन्यान्य सम्बन्धित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या के द्वारा स्पष्ट किये हैं। उसका सम्पूर्ण रूप से यहाँ उल्लेख करने से ग्रन्थ अति विस्तृत हो जायगा, इस कारण उसे यहाँ न कहकर उसका सारांश टिप्पणी में ('नारायणी' में) दिया गया है।]

बात यह है कि संसार में सुख का लेश मात्र भी नहीं है, यह समझकर विषयरूप मृगतृष्णिका से इन्द्रियों को निवृत्त करना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है। जागतिक विषय समूह के भोग केवल दुःखों का ही हेतु हैं इतना ही नहीं किन्तु वे आद्यन्तवन्तः—ये आदि तथा अन्तयुक्त भी हैं। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग ही भोग का आदि है एवं उसका वियोग ही भोग का अन्त है। [इन्द्रिय तथा विषय के परस्पर संस्पर्शजनित जो सुख उत्पन्न होता है वह क्षणिक है क्योंकि वह पहले भी नहीं था एवं बाद में भी नहीं रहेगा किन्तु मध्य दशा में स्वप्न की तरह प्रकाशित होता है। इसलिए वह अनित्य (क्षणिक) एवं स्वरूपतः मिथ्या है। आचार्य गौड़पाद ने इसलिए कहा है—'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा' अर्थात् जो आदि में नहीं रहता है एवं अन्त में भी नहीं रहता है वह वर्तमान काल में भी वैसा ही है अर्थात् वह नहीं है ऐसा समझना पड़ेगा चूँकि सांसारिक भोगों का स्वरूप ऐसा है उस कारण (मधुसूदन)]

तेषु—उनमें अर्थात् उन विषय भोगों में बुधः—विवेकी व्यक्ति अर्थात् नित्य आत्मा का एवं अनित्य तथा जागतिक वस्तु का पृथकत्व निर्णय कर जो परमार्थ तत्त्व को जान गया है वह [अर्थात् सभी वस्तु के अधिष्ठान स्वरूप परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार कर जिसका भ्रम निवृत्त हो गया है वह विद्वान् पुरुष] न रमते रमण नहीं करता है अर्थात् रत नहीं होता है (प्रीति अनुभव नहीं करता है)। [ज्ञानी एक ओर जैसे भोग के क्षणभंगुरत्व, अल्पत्व, दुःखत्व तथा मिथ्यात्व को अपने अनुभव से निश्चय करते हैं दूसरी ओर नित्य ब्रह्म के स्वरूप तथा स्वरूपभूत सुख (आनन्द) का भी अनुभव करते हैं अतः उनके लिए विषयों का कोई आकर्षण नहीं रह सकता है]। पशुपक्षी आदि के समान जो लोग अत्यन्त मूढ़ हैं उनकी ही विषय समूहों में प्रीति देखी जाती है। जो व्यक्ति मृततृष्णिका के (मरीचिका के) स्वरूप को जानता है वह जैसे जलतृषा को निवृत्त करने के लिए मृगतृष्णिका की ओर नहीं जाता है उस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति भी विषय में आसक्त नहीं होते हैं। अतः संसार में सुख का गन्ध भी नहीं है यह समझकर मुमुक्षु को विषय समूहों से इन्द्रियों को निवृत्त करना चाहिए, यही 'न तेषु रमते बुधः' वाक्य का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अच्छा, प्रिय विषयों के भोगों की भी निवृत्ति हो जाने पर जो मोक्ष की प्राप्ति होती है, वह पुरुषार्थ कैसे पुरुष की लक्ष्य वस्तु हो सकती है ? इसलिए कह रहे हैं—]

ये हि संस्पर्शजाः भोगाः—इन्द्रियों से जिनका सम्यग् प्रकार से स्पर्श किया जाता है उनको संस्पर्श कहा जाता है। अतः संस्पर्श शब्द का अर्थ है विषय। उन विषयों से उत्पन्न जो भोग या लौकिक सुख है **ते एव दुःखयोनयः**—वे वर्तमान काल में भी स्पर्धा, असूया निन्दा आदि से व्याप्त रहते हैं एवं इस कारण वे दुःख के ही योनि अर्थात् कारणभूत होते हैं। पुनः वे **आद्यन्तवन्तः**—आदि तथा अन्तयुक्त हैं (अर्थात् संयोग तथा वियोग युक्त हैं) इसलिए अनित्य हैं (अतः) **बुधः तेषु न रमते**—इस कारण विवेकी पुरुष (अनित्य वस्तुओं से नित्य आत्मस्वरूप को जो पृथक् जानता है वह) उनमें रमण नहीं करता है (उनमें आसक्त नहीं होता है)

(२) **शंकरानन्द**—पूर्वश्लोक में जो कहा गया है कि ब्रह्मवित् 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' होंगे यह बात उपयुक्त नहीं है क्योंकि ब्रह्मविद् को समय पर विषय सुख भी होगा और ब्रह्मसुख तो है ही, ऐसी आशंका यदि हो तब वह युक्त नहीं है क्योंकि विषय सुख आदि तथा अन्त वाला है अतः वह दुःख-रूप है, अल्प है एवं तुच्छ है। इसलिए आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष की प्रवृत्ति उनमें नहीं होती है। इसे ही अब कहा जा रहा है—

हि—चूँकि **संस्पर्शजाः**—जो इन्द्रियों के तथा विषयों के संस्पर्श अर्थात् उनके परस्पर संयोग से जात (उत्पन्न) होते हैं वे संस्पर्शज हैं अर्थात् इन्द्रिय तथा विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न **ये भोगाः**—जो भोग अर्थात् विषय सुख हैं **ते**—वे **आद्यन्तवन्तः**—आदि (उत्पत्ति) तथा अन्त (विनाश) शील हैं। अतः वे अनित्य (क्षणिक) है। 'संस्पर्शजाः' इस शब्द के द्वारा जब जन्यत्वहेतु के द्वारा (अर्थात् विषय सुख उत्पन्न होता है इस कारण से ही विषय सुखों का अनित्यत्व सिद्ध किया गया है, तब पुनः वह आदि अन्तशील (उत्पत्ति विनाशशील) है यह कहना निरर्थक है, ऐसा मानना उचित नहीं है क्योंकि तार्किक लोग प्रध्वंसाभाव जन्य होने पर भी (उत्पत्तिशील होने पर भी) उसके नित्यत्व को स्वीकार करते हैं। मीमांसकों के मत में 'अक्षय्यं ह वै चातुर्म्मास्ययाजिनः सुकृतम्' (चातुर्मास्य का यजन करने वाले पुरुषों का पुण्य अक्षय होता है) इस वचन को प्रमाण के रूप से स्वीकार कर वे लोग चातुर्मास्यरूप याग से उत्पन्न होने पर भी उस सुख में भी अक्षयत्व मानते हैं। इस प्रकार नैयायिक तथा मीमांसक मत का निराकरण करने के लिए 'आद्यन्त-वन्तः' (आदि और अन्तवाले) ऐसा श्रीभगवान् ने कहा। विषय सुख का क्षणिकत्व तथा अल्पत्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भी सिद्ध होता है क्योंकि विषय तथा इन्द्रिय के संयोग से पहले जिस प्रकार विषय सुख दृष्टिगोचर

नहीं होता है उस प्रकार विषय तथा इन्द्रिय के वियोग के बाद भी वह सुख देखने में नहीं आता है इस प्रकार जो समस्त भोग उत्पत्ति तथा विनाशशील हैं वे दुःखयोनयः एव—दुःख के योनि अर्थात् दुःख का हेतु ही होते हैं। चूँकि वे अपने कारण का नाश से अथवा अपके नाश से अथवा अपने कारण की असिद्धि होने से (अर्थात् सुख के कारण का अभाव होने पर) अथवा अपना ही अभाव होने पर (कारण के रहने पर भी यदि सुख न रहे तब) दुःख ही प्रदान करता है, यह सर्वलोक प्रसिद्ध है अर्थात् इसे सभी जानते हैं इसलिये विषय सुख का सापेक्षत्त्व, क्षणिकत्व, अल्पत्व एवं दुःखदायकत्व को विशेषरूप से जानकर बुधः—ब्रह्मवित् पंडित तेषु न रमते—उनमें अर्थात् विषय सुखों में रमण (रति) नहीं करता है। दूसरों की दृष्टि से उन विषय भोग होते रहने पर भी स्वयं निजदृष्टि से ब्रह्मानन्दामृत रस को ही पान करता है बाह्य वस्तु का अनुसन्धान नहीं करता है अर्थात् विषय तथा तज्जनित सुख कुछ भी स्वयं अनुभव नहीं करता है।

(३) **नारायणी टीका—भोगाः दुःखयोनयः**—विवेकी व्यक्ति को विषय तथा इन्द्रिय के संस्पर्शजनित जो जागतिक विषयसुख प्राप्त होते हैं वे सभी दुःखस्वरूप ही हैं। पातंजल योगसूत्र में कहा गया है 'परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (पा० यो० साधन-पाद १५ सूत्र) अर्थात् परिणाम दुःख, तापदुःख तथा संस्कार दुःख के साथ संयुक्त रहने के कारण एवं सुख, दुःख तथा मोहरूप गुणवृत्तियों में परस्पर विरोध रहने के कारण विवेकी के निकट सभी ही दुःखस्वरूप हैं। (क) विषयसुख परिणामशील (आदि तथा अन्तविशिष्ट) हैं अर्थात् पहले नहीं था, अब है फिर बाद में नहीं रहेगा। अतः जब भी सुख का अभाव होगा तभी दुःख उत्पन्न होगा। इसलिए सभी सुख के साथ ही 'परिणाम दुःख'—वर्तमान है। (ख) पुनः सुख भोग के समय भी भोग्यवस्तु के विनाश का भय रहता है एवं जिससे विनाश होने की सम्भावना है उसके प्रति द्वेष रहता है। इन भय तथा द्वेष के कारण भोग करते समय में भी अन्तर में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है वही तापनामक दुःख है—(ग) पुनः सुखभोग समाप्त होने पर भी भोग का संस्कार रह जाता है। उस संस्कार से स्मृति उत्पन्न होकर भोग की वासना की वृत्ति होकर जिस दुःख का उदय होता है उसे संस्कार दुःख—कहा जाता है। (घ) पुनः भोग के सभी उपकरण ही 'गुणवृत्ति के विरोध' का उत्पादक होते हैं। गुण की (त्रिगुण की) वृत्तियों से सुख, दुःख तथा मोह को समझा जाता है। उनका 'विरोध' स्वभावतः ही

होता है अर्थात् उनमें एक दूसरे को अभिभूत करता है। सत्त्व, रज तथा तम ये परस्पर मिश्रित रहते हैं एवं उनकी वृत्तियाँ चल अर्थात् अस्थायी हैं। अतः जिसे सुखवृत्ति कही जाती है वह दुःखरूप रजोगुण एवं मोहरूप तमोगुण के द्वारा मिश्रित सत्त्वगुण का परिणाम मात्र है। किन्तु उसी सुख वृत्ति की दुःखरूपता एवं मोहरूपता स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होती क्योंकि सुखवृत्ति जबतक वर्तमान रहती है तबतक सत्त्वगुण की ही प्रधानता रहती है। रजोगुण तथा तमोगुण सत्त्वगुण के द्वारा अभिभूत रहते हैं। इसलिए ही उस समय पर वह सुखवृत्ति स्पष्ट रूप से प्रकाशित होती है। इस प्रकार रजोगुण का प्राधान्य होने से उससे दुःखवृत्ति और तमोगुण की प्रधानता होने से उससे मोहवृत्ति उत्पन्न होती है। किन्तु सुख, दुःख तथा मोहवृत्ति में त्रिगुण सदा ही मिश्रितरूप से विद्यमान रहते हैं एवं कोई एक वृत्ति दीर्घकाल तक स्थायी न रहने के कारण एक दूसरे को समय के अनुसार अभिभूत करती रहती है। उस प्रकार सभी जागतिक सुख ही (क) परिणामदुःख, (ख) तापदुःख तथा (ग) संस्कार दुःख से संयुक्त हैं एवं (घ) समस्त जगत् त्रिगुण का परिणामस्वरूप होने के कारण सुख-वृत्ति भी स्वाभाविक रूप से ही दुःख तथा मोहरूप वृत्ति के द्वारा कालक्रम से अभिभूत हो जाती है। अतः ज्ञानी व्यक्ति के लिए सभी भोग ही दुःखकर होने के कारण वे हेय तथा परित्याज्य हैं। परिणाम, ताप, संस्कार इत्यादि रूप दुःख सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी को ही उद्विग्न करते हैं, स्थूलबुद्धि कामी कर्मियों को नहीं। जिस प्रकार मकड़े का जाल अत्यन्त कोमल होने पर भी अक्षिगोलकको उद्विग्न करता है, दूसरे अवयवों को नहीं, उसी प्रकार समस्त भोग के उपकरण (सामग्री) विवेकी पुरुष के निकट विष मिश्रित अन्न के समान दुःखप्रद होता है, दूसरे के लिए नहीं इसलिए ही किसी विषयसुख में ज्ञानी प्रीति अनुभव नहीं करता है, (उसमें रमण नहीं करता है) अर्थात् आदि तथा अन्तयुक्त (अस्थायी) एवं परिणाम में दुःख का कारण जो विषयसुख है उसे त्याग कर नित्य निरतिशय सुखस्वरूप जो आत्मा है उसी में ही ज्ञानी पुरुष रमण करता है। वस्तुतः विषयसुख भी आत्मानन्द या ब्रह्मानन्द का ही क्षणिक स्फुरणमात्र है। इच्छित विषय प्राप्त होने पर क्षणकाल के लिए चित्त स्थिर होकर कल्पनारहित होता है। उस कल्पनारहित शान्त अन्तः-करण में आत्मानन्द प्रतिबिम्बित होता है (जैसा सुषुप्ति अवस्था में होता है)। उसे ही विषय सुख कहा जाता है। किन्तु यह इतना क्षणिक है कि मनमें कल्पना का उदय होते ही चित्त अशान्त हो जाता है एवं उस

सुख का भी साथ-साथ अन्त होता है। जो विचारशील विवेकी पुरुष विषय-सुख के आदि तथा अन्त का (उत्पत्ति तथा नाश का) तत्त्व जानता है वह सुख की आशा से बाह्य विषयों के प्रति धावित नहीं होकर अन्तः-करण को ही शान्त तथा आत्मा में समाधिस्थ कर अक्षय आत्मानन्द में मग्न रहता है।

[अच्छा, जो सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने के फलस्वरूप समस्त चित्त के मल (दोष) से मुक्त होकर आत्माराम हुए हैं उनमें किसी जागतिक सुख के लोभ से विषयों के लिए प्रवृत्ति नहीं होती है, इसे हम मान लेते हैं किन्तु जो मुमुक्षु हैं उनके साधन के अभ्यास के समय इष्टलाभ के लिए कामवशतः विषय में प्रवृत्ति एवं अनिष्ट प्राप्ति में क्रोधवशतः प्रतिकूल विषय से निवृत्ति तो रहेगी ही। अतः वैसे मुमुक्षु को तत्त्वज्ञान कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि मुमुक्षु को भी यत्न के साथ काम तथा क्रोध को परिहार करना होगा क्योंकि कामक्रोध को जय करने से ही शमादिसाधनसम्पन्न होकर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का अधिकारी होना सम्भव है एवं उसके बाद ज्ञानलाभ कर मोक्ष तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है)। काम तथा क्रोध का वेग ही मोक्षमार्ग का प्रतिपक्षी है (अर्थात् प्रधान शत्रु है)। जन्ममृत्युरूप संसार प्राप्ति का बीज है। अतः यह दोष कष्टतम है अर्थात् अत्यन्त क्लेशदायी है। यही सभी अनर्थप्राप्ति का हेतु है परन्तु यह दुर्निवार्य भी है अर्थात् इसे निवारण करना बहुत ही कठिन है (क्योंकि काम के वश होकर ही असंयतपुरुष मातृगमन करता है एवं क्रोध के वश से पिता की भी हत्या कर डालता है)। इसलिए इसके परिहार के लिए विशेष यत्न करना पड़ेगा, इसे ही भगवान् अब कह रहे हैं—]

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३ ॥

अन्वयः—इहैव शरीरविमोक्षणात् प्राक् कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं यः शक्नोति स युक्तः सः सुखी, सः नरः।

अनुवाद—इस लोक में ही मरण के पहले काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग सहन करने में जो समर्थ होते हैं वे ही युक्त हो सकते हैं अर्थात् परमात्मा के साथ योग (एकत्व) सम्पादन कर सकते हैं। अतः वे ही प्रकृत सुखी हैं एवं वे ही नर अर्थात् पुरुष हैं क्योंकि वे मनुष्य जीवन का परम-पुरुषार्थ (मोक्ष) सम्पादन करने में समर्थ होते हैं।

भाष्यदीपिका—इहैव—जीवितावस्था में ही [अथवा इहैव—इस समय में ही] शरीर-विमोक्षणात् प्राक्—शरीर के पात होने से (छूटने से) पहले-पहले अर्थात् मरण के समय तक अर्थात् आमरण। मरण तक सीमा रखने का तात्पर्य यह है कि काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग जीवित व्यक्ति के अन्तःकरण में अवश्य ही उत्पन्न होता रहता है। अनेक कारणों से ही ऐसा वेग प्रकट होता है, अतः मरने तक उसका विश्वास न करे (कारण कोई भी व्यक्ति किसी भी समय में उस वेग के द्वारा वशीभूत हो सकता है)। अतः आमरण उस काम (तृष्णा) तथा क्रोध से ताकि वेग उत्पन्न न हो सके अर्थात् काम तथा क्रोध का प्रवाह चल न सके उस विषय में मुमुक्षु को सावधान रहना पड़ेगा, यही कहने का अभिप्राय है। **कामक्रोधोद्भवं वेगं**—काम तथा क्रोध जिस वेग के उद्भव (उत्पादक अर्थात् उत्पत्ति का कारण) होते हैं, उस वेग को अर्थात् काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग को। पहले अनुभव किये हुए किसी अभिलषित सुखकर वस्तु के इन्द्रिय गोचर होने पर (अर्थात् उस वस्तु के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर) अथवा सुने जाने पर अथवा स्मरण हो जाने पर [उसका गुण अनुसन्धान कर (मधुसूदन)] उसके प्रति जो गृधि या तृष्णा अर्थात् उसकी प्राप्ति की इच्छा (लालसा) होती है उसीका नाम है **काम**—जो वस्तु दुःख का हेतु होकर आत्मा की प्रतिकूल होती है उन वस्तुओं के दर्शन, श्रवण या स्मरण से [उन वस्तुओं का दोष अनुसन्धान कर (मधुसूदन)] जो (प्रज्वलनात्मक) द्वेष उत्पन्न होता है उसका नाम क्रोध है। [स्त्री पुरुषों के संगम के लिए तृष्णारूप जो प्रसिद्ध काम है उसके सम्बन्ध में यहाँ नहीं कहा गया है। यहाँ 'काम' शब्द साधारण रूप से तृष्णारूप अर्थ में (लोभादिरूप अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (मधुसूदन)]। उस प्रकार काम तथा क्रोध ही है उद्भव अर्थात् उत्पादक जिस वेग का (मन के विकार विशेष का) उस वेग को 'कामक्रोधादूभव वेग' कहा जाता है। [वेग शब्दका तात्पर्य टिप्पणी (१) में द्रष्टव्य है]। शरीर का रोमांच, हृष्टनेत्र, हृष्टवदन (प्रफुल्लित नेत्रों तथा मुख) इत्यादि चिह्नों के द्वारा अन्तःकरण का जो प्रक्षोभ (चंचलता) अनुमित होता है उसका नाम है **कामोद्भववेगः**—(काम से उत्पन्न हुआ वेग) और शरीर का कम्प, प्रस्वेद (पसीना), ओष्ठ (होठों) का दंशन, आरक्त (लाल) नेत्र प्रभृति चिह्नों के द्वारा अन्तःकरण का जो चांचल्य अनुमित होता है उसे **क्रोधोद्भववेग**-(क्रोध से उत्पन्न हुआ वेग) कहा जाता है। इस प्रकार कामक्रोधोदूभव वेग को **सोढुं यः शक्नोति**—जो

सहन करने में समर्थ है अर्थात् उस वेग को सहन करने में उत्साह रखता है। [पुनः पुन विषयों के दोषदर्शन के अभ्यास के द्वारा वशीकार संज्ञक वैराग्य द्वारा काम तथा क्रोधजनित वेग के अनुरूप कार्य सम्पादन न कर उस वेग को अनर्थक अर्थात् व्यर्थ कर देने में जो समर्थ होता है (मधुसूदन)] वह व्यक्ति शान्त एवं दान्त होकर श्रवणादि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर स युक्तः— प्रकृत युक्त (योगी) होता है अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा के साथ योग (ऐक्य) साधन कर प्रकृत योगी होता है। अतः सः सुखी—वह ही प्रकृत सुखी है अर्थात् ब्रह्मानन्दी होता है दूसरा कोई ऐसा नहीं हो सकता है। सः नरः—वही इस लोक में प्रकृत पुरुष है (धुरन्धर पुरुष) चूँकि उसने परम-पुरुषार्थ सम्पादन किया है। [ऐसे पुरुष के विना जो लोग काम तथा क्रोध के वशीभूत होकर आहार, निद्रा, भय तथा मैथुनरूप पशुधर्म में निरत रहकर इस दुर्लभ मनुष्य जीवन वृथा विता देते है अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं उन्हें मनुष्य की आकृतिविशिष्ट पशु भिन्न और क्या कहा जा सकता है ? यही यहाँ 'नरः' शब्द का तात्पर्य है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—कामक्रोधोद्भवं वेगं—जब काम तथा क्रोध की उत्कट अवस्था होती है तब वह काम तथा क्रोध बुद्धि को अभिभूत कर मनुष्य को लोक-विरुद्ध तथा वेद-विरुद्ध पथ में चालित कर देते हैं। नदी के वेग के साथ सादृश्य दिखाने के लिए उस काम तथा क्रोध की उत्कट अवस्था को यहाँ 'वेग' कहा गया है। वर्षाकाल में प्रबल नदी का वेग जिस प्रकार जो व्यक्ति गढ्ढे में गिरना या निमग्न होना नहीं चाहता है उसे भी गढ्ढे में फेंक देता है एवं निमग्न कर देता है (डूबा देता है) उस प्रकार जो व्यक्ति लोक तथा वेदविरुद्ध कर्म करने की इच्छा नहीं करता है उसे भी काम तथा क्रोध का वेग (जो पुनः पुनः विषयों के चिन्तन से अत्यन्त प्रबल हो जाता है) विषयरूप गढ्ढे में फेंक देता है एवं महान् अनर्थ में (महा-नरकादि में) निमज्जित कर (डूबा) देता है, यही इस श्लोक में 'वेग' शब्द का तात्पर्य है (गीता ३।३६ श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है)।

[अथवा जैसा मृतव्यक्ति विलापकारिणी युवती पत्नियों से आलिङ्गित होने पर भी एवं पुत्रादि द्वारा श्मशान में (शमशान में) दग्ध होते हुए भी प्राणविहीन होने के कारण आलिङ्गनजनित काम तथा दहनजन्य क्रोध का वेग सहन करता है ऐसा ही मृत्यु के पहले जीवितावस्था में ही जो काम क्रोध का वेग सहन कर सकता वह ही युक्त है, वही सुखी है। इस श्लोक में युक्त तथा सुखी होने के इच्छुक पुरुष में मृतव्यक्ति के समान किसी प्रकार से

काम तथा क्रोध की उत्पत्ति नहीं होगी, ऐसा नहीं कहा गया है किन्तु प्रारब्ध संस्कार के वश से काम तथा क्रोध लब्धवृत्ति (प्रकट) होने पर भी जो उस काम और क्रोध के वेग को सहन करके उसको निरर्थक कर दे सकता है वही युक्त (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप) तथा सुखी (आनन्दस्वरूप) हो सकता है, यह कहा गया है]।

(२) श्रीधर—[मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है एवं इस मोक्ष का सबसे प्रतिपक्ष (बाधा) है काम तथा क्रोध का वेग। अतः जो उस वेग को सहन करने में समर्थ हैं वे ही मोक्ष के भागी होते हैं—यही अब कहा जा रहा है] **कामक्रोधोद्भवं वेगं**—काम से एवं क्रोध से जो मनोनेत्रादि के क्षोभ (विकार) रूप वेग की उत्पत्ति होती है उसे **इह एव**—उसकी उत्पत्ति के समय ही **यः नरः सोढुं शक्नोति**—जो मनुष्य सहन करने में अर्थात् प्रतिरोध करने में समर्थ होता है वह भी केवल क्षणमात्र के लिए सहन करने से नहीं होगा किन्तु **शरीर विमोक्षणात् प्राक्**—देहपात के (शरीर छूटने के) पूर्व तक जो सहन करने में समर्थ होता है **सः युक्तः**—वह (आत्मा में) समाहित है एवं **सः सुखी**—वह ही सुखो है दूसरा कोई भी नहीं। अथवा श्लोक का ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। मृत्यु के बाद रोती हुई युवतियों के द्वारा आलिंगन किये जाने पर एवं पुत्रादि के द्वारा जलाये जाने पर भी (शरीर श्मशान में जल जाने पर भी) जिस प्रकार प्राणहीन व्यक्ति काम क्रोध का वेग सहन करता है उस प्रकार मरण के पहले तक जीवित रहकर जो काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग को (प्रवाह को) सहन कर सकता है वही (युक्त योगी) है एवं वही सुखी है। वशिष्ठ जी ने कहा है 'प्राणे गते यथा देहः सुख-दुःखे न विन्दति। तथा चेत् प्राण-युक्तोऽपि स कैवल्याश्रयो भवेत' ॥ अर्थात् मृत व्यक्ति का देह जिस प्रकार सुख तथा दुःखों को प्राप्त नहीं होता है वैसा जो प्राण रहते हुए भी उस प्रकार सुख-दुःखको प्राप्त नहीं होता है वही कैवल्य के (मोक्ष के) आश्रित होता है अर्थात् मोक्ष का अधिकारी होता है।

(३) शंकरानन्द—जो सभी वस्तु को ही ब्रह्म के रूप से देखते हैं एवं ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा जिनका रागद्वेष आदि कषाय (मलिनता) निःशेष नष्ट हो गये हैं ऐसे आत्माराम पुरुष की सुख प्राप्त करने की इच्छा से विषयों में प्रवृत्ति भले ही न हो किन्तु जो लोग ब्रह्मयोग-अभ्यास कर रहे हैं ऐसे व्यक्तियों का तो इष्ट विषय में काम एवं अनिष्ट विषय में क्रोध रहेगा ही एवं उस कारण से इष्ट में प्रवृत्ति तथा अनिष्ट से निवृत्ति भी होगी ही ऐसी यदि आशंका हो तो वह संगत नहीं होगा क्योंकि उस अभ्यासी मुमुक्षु को भी

प्रयत्न पूर्वक उन दोनों का अर्थात् काम तथा क्रोध का (एवं उससे उत्पन्न प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का) परिहार करना पड़ेगा क्योंकि काम तथा क्रोध के जय करने से ही शमादि साधन सम्पत्ति, वेदान्तवाक्य श्रवण, तत्त्वज्ञान, मोक्ष एवं मोक्ष का सुख (परमानन्द) सिद्ध हो सकता है अन्य प्रकार से नहीं । इस अभिप्राय से श्रीभगवान् कह रहे हैं—

कामक्रोधोद्भवं वेगं—भोग्य पदार्थ के स्मरण करने से, श्रवण करने से एवं प्राप्त होने से शीघ्र भोग करने को जो इच्छा होती है उसे काम कहा जाता है । यह काम शिष्ट पुरुष को भी भ्रष्ट कर देता है, वृद्ध को भी लोभी बना देता है, सन्तापरहित व्यक्ति को भी सन्तप्त करता है । पुनः अप्रिय वस्तु के स्मरण करने से, श्रवण करने से एवं दर्शन करने से मन को क्षुब्ध (विचलित) कर देता है जो द्वेष का परिपाक (अर्थात् प्रकट-अवस्था) है उसे क्रोध कहा जाता है । यह क्रोध अपने आश्रय को (अर्थात् जिसके प्रति क्रोध होता है उसे) अग्नि जिस प्रकार अपने आश्रय लकड़ी आदि को जला देती है उस प्रकार जलाता है तथा गुरु की भी हिंसा कराता है । उन काम और क्रोध से समुद्भव (उत्पन्न) होता है जो वेग अर्थात् काम क्रोध का उद्वेग उसे **इह एव**—इस जीवन में ही **शरीरविमोक्षणात् प्राक्**—शरीर अर्थात् वर्तमान देह के पतन से पहले ही (यौवन काल में ही) **यः**—जो मुमुक्षु **सोढुं शक्नोति**—तीव्र मोक्ष की इच्छा से उत्पन्न हुई तितिक्षा से सहन करने में समर्थ होता है अर्थात् काम क्रोध को जीत कर शान्त बनने के लिए योग्य होता है **सः नरः**—वह मोक्षार्थी पुरुष**युक्तः**—श्रवणादि द्वारा ज्ञान का सम्पादन कर (ज्ञानलाभ कर) युक्त अर्थात् योगी बनने में समर्थ होता है **सः सुखी**—एवं वही सुखी है अर्थात् ब्रह्मानन्दी हो सकता है । यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि 'दुर्लभो मानुषो देहो ब्राह्मो देहः सुदुर्लभः । ब्राह्मं देहं समासाद्य येन मुक्त्यै न यत्यते ॥ सुमेरोरग्रमासाद्य स्वदेहं पातयत्यधः । तमेव पतितं विद्युर्जातिभ्रष्टं महर्षयः ॥' (मनुष्य शरीर दुर्लभ है तथा ब्राह्मण का शरीर तो अति दुर्लभ है । ब्राह्मण के शरीर को प्राप्त कर जो मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता है वह सुमेरु के शिखर में चढ़कर अपनी देह को नीचे गिरा देता है । ऐसे व्यक्ति को ही महर्षि लोग पतित तथा जातिभ्रष्ट कहते हैं), इस वाक्य के अनुसार मोक्ष सम्पादन करने के योग्य ब्राह्मण देह को प्राप्त कर यदि कोई काम क्रोध के वशीभूत होकर पतित हो जाय अर्थात् मोक्ष के लिए यत्न न करे तब भावी जन्म में उक्त लक्षण-विशिष्ट देह को अर्थात् ब्राह्मण-देह को प्राप्त करना उनके लिए कठिन है ।

इसलिए मुमुक्षु के विवेक तथा वैराग्य के द्वारा यौवन काल में अर्थात् वृद्धावस्था से पहले ही काम आदि शत्रुओं को विजय कर प्रयत्नपूर्वक अभी (अर्थात् कालविलम्ब न कर) मोक्ष सम्पादन करना चाहिए। अथवा इह एव—इसी जन्म में ही मोक्षप्राप्ति की इच्छा कर शरीर-विमोक्षणात् प्राक्—यहाँ 'शरीर' शब्द के द्वारा शरीराश्रित गार्हस्थ्य धर्म को लक्ष्य किया गया है। अतः 'शरीर विमोक्षण' पद का अर्थ है गार्हस्थ्य धर्म के विमोक्षण से (छोड़ने से) पहले अर्थात् संन्यास ग्रहण करने से पहले ही यः नरः—जो मुमुक्षु नर (पुरुष) विवेक वैराग्य के द्वारा कामक्रोधोभवं वेगं—काम तथा क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सोढुं शक्नोति—सहन करने में समर्थ होता है अर्थात् उस वेग को शान्त कर सकता है सः—वही शम आदि साधनों से सम्पन्न होकर श्रवण तथा मनन के द्वारा ज्ञान सम्पादन (प्राप्त) करके युक्तः ब्रह्मयोग युक्त अर्थात् आनन्द स्वरूप ब्रह्म के साथ युक्त तथा सुखी—ब्रह्मानन्दी होने के योग्य (समर्थ) होता है। काम क्रोध को जय न कर संन्यासाश्रम ग्रहण कर (सर्वकर्मत्याग कर) केवल श्रवणादि के द्वारा ज्ञान एवं ज्ञान का फल (अर्थात् ब्रह्म में आत्मभाव एवं मोक्ष सुख) प्राप्त करने में कोई भी समर्थ नहीं होता है—यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

(४) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा गया है कि इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ विषय भोग किये जाते हैं वे सर्वदा ही दुःख के हेतु हैं एवं वे भोग क्षणस्थायी भी। किन्तु जो विचारशील पुरुष विषयों का अनित्यत्व तथा दुःखत्व को शास्त्र तथा युक्ति के द्वारा स्पष्ट रूप से समझ गये हैं उनमें भी काम तथा क्रोध देखे जाते हैं अर्थात् अनुकूल विषय का दर्शन अथवा उस विषय के सम्बन्ध में श्रवण अथवा स्मरण होने से उसके गुणों का अनुसन्धान चिन्तन कर उस विषय के प्रति काम लालसा (अर्थात् प्राप्ति की इच्छा) उत्पन्न होती है; पुनः प्रतिकूल विषय के दर्शन में अथवा उस विषय के सम्बन्ध में श्रवण कर अथवा उसका स्मरण कर (दोषानुसन्धान कर) उस विषय के प्रति क्रोध (द्वेष) उत्पन्न होता है। जब विचारशील व्यक्ति में काम तथा क्रोध दिखता है तब वह अवश्य ही दुर्निवार्य्य है। अतः काम तथा क्रोध से मुक्त होकर निर्विकल्प ब्रह्म में स्थिति लाभ कर मोक्ष प्राप्त करना जीव के लिए एक प्रकार से असम्भव ही है। ऐसी शंका के उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं कि ज्ञानी की भी देहेन्द्रियादि की प्रवृति पूर्व संस्कार के वश में ही होती है। इन्द्रियादि के साथ अनुकूल विषयों का संस्पर्श होने से पूर्वाभ्यासवशतः उस विषय के प्रति काम (प्राप्ति की इच्छा) उत्पन्न होना अथवा प्रतिकूल

विषयों के संस्पर्श से क्रोध (द्वेष) उत्पन्न होना कोई आश्चर्यकारक व्यापार नहीं है किन्तु विषयों का अनित्यत्व मिथ्यात्व तथा दुःखत्व का बोध दृढ़ रहने से (गीता ५।२२) एवं अखंडाद्वय आनन्दस्वरूप आत्मा का सत्यत्व तथा नित्यत्व निश्चित होने पर उस काम तथा क्रोध का वेग तुरन्त शान्त हो जाता है। किन्तु अज्ञानी केवल काम तथा क्रोध युक्त ही नहीं होता है उस काम तथा क्रोध का वेग उसे नदी के वेग की (प्रवाह की) तरह महादुःखसागर में निमग्न कर देता है। ज्ञानी तथा अज्ञानी में यही विशेषता है क्योंकि ज्ञानी 'प्राक्शरीर-विमोक्षणात्' अर्थात् मृत्यु के पूर्वसमय तक इस काम तथा क्रोध के वेग का सहन कर सकते हैं; पूर्वसंस्कारवशतः किसी समय में उसके चित्त में काम तथा क्रोध का आविर्भाव अकस्मात् होने पर भी वे काम तथा क्रोध को अन्तः-करण का धर्म जानकर 'गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते' (गीता ३।२८) अर्थात् इन्द्रियरूप गुणों में विद्यमान रहकर यह काम तथा क्रोध उत्पन्न हो रहे हैं अथवा 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' (गीता ५।८-९) अर्थात् इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त होकर काम या क्रोध को उत्पन्न कर रहीं हैं—मैं (आत्मा) उन सभी के द्रष्टा साक्षी मात्र हूँ इस प्रकार यथार्थ ज्ञान के द्वारा काम तथा क्रोध को दृश्य के रूप से देखते रहते हैं। इस प्रकार द्रष्टा के रूप में सदा स्थित ज्ञानी का काम या क्रोध शान्त हो जाता है, अतः उससे वेग उत्पन्न नहीं हो सकता इस प्रकार जो ज्ञानी पुरुष काम तथा क्रोध के वेग से सदा मुक्त रहते हैं वे ही आनन्दस्वरूप अखंडात्मा में युक्त (समाहित) रह सकते हैं एवं वे ही यथार्थ सुखी—हैं क्योंकि वे आत्मानन्द (ब्रह्मानन्द) में निमग्न रहकर केवल आनन्द ही प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु आनन्दी हो जाते हैं। पुनः वे ही यथार्थ नर (मनुष्य) हैं क्योंकि मनुष्य जीवन का जो परम पुरुषार्थ (मोक्ष) है उसे वे ही प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

[पूर्वश्लोक की व्यवस्था में युक्त काम तथा क्रोध का वेग सहन करने से ही मोक्ष निश्चित रूप से प्राप्त होगा ऐसी बात नहीं है किन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए और कुछ प्रयोजन होता है। अतः योगी कैसा होने पर ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म को प्राप्त होते है अर्थात् ब्रह्मरूप निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं, वह अब कहा जा रहा है]

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
सः योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥

अन्वयः—यः अन्तःसुखः अन्तरारामः तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव सः योगी ब्रह्मभूतः (सन्) ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति।

अनुवाद—आत्मा में ही जिसका सुख है (बाहरी वस्तुओं में नहीं), आत्मा में ही जिसका आराम या आक्रीड़ा है (स्त्री प्रभृति विषयों में नहीं), आत्मा ही जिसकी दृष्टि में नित्य प्रकाश रूप से विद्यमान है (नामरूप-क्रियात्मक जगत् का प्रकाश जिसकी दृष्टि में नहीं), वह योगी (जीविता-वस्था में ही) ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् ब्रह्म में लय प्राप्त होकर) परमानन्द रूप (मोक्ष) प्राप्त करता है।

भाष्यदीपिका-यः अन्तःसुखः-श्रुति में कहा गया है 'सर्वस्मादन्तरतरं यद्यमात्मा' (बृ० उ०) अर्थात् सबसे जो अन्तरतर है (सबको दूर कर देने से जो अवशेष रहता है) वही आत्मा है अतः 'अन्तः' शब्द का यहाँ अर्थ है आत्मा इस अन्तर आत्मा में जिसका सुख है उसको ही अन्तःसुख कहा जाता है ! जो मिथ्या बाह्य विषय से सुख प्राप्ति की अभिलाषा नहीं करता, अतः बाह्य विषयों की अपेक्षा न कर केवल आत्मा में ही स्थित रहकर सुख अनुभव करता है वही 'अन्तःसुख' हैं। अब प्रश्न है उनका बाह्य विषयों से विमुख होने का कारण क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं अन्तरारामः— अन्तः अर्थात् आत्मा में ही जिसका आराम अर्थात् आ (सर्वतोरूप से) रमण (क्रीड़ा) है वह अन्तराराम है। बाहर के सुख का साधन स्त्री आदि में वह रमण नहीं करता अर्थात् सभी प्रकार के परिग्रहों को (बाह्य सुख के साधनों को) वह परित्याग कर आत्मा में ही रमण करता है। [शंका है— अच्छा, विना प्रयत्न से स्वयं उपस्थित कोयल आदि के मधुर शब्दों का श्रवण, मृदुमन्द वायु का स्पर्शन चन्द्रोदय तथा मोर आदि के नृत्य का दर्शन, अतिशय मधुर शीतल गंगाजल का पान एवं सुगन्धित पुष्प का आघ्राण उसका होता रहता है एवं ये अवश्य ही उसका सुख उत्पादन करते हैं इस अवस्था में वह ज्ञानी बाह्य सुख से शून्य होकर अन्तः सुख एवं बाह्य सुख के साधनों से शून्य होकर अन्तराराम कैसा होता है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं (मधुसूदन)] तथा यः अन्तर्ज्योतिः एव—उसका सुख तथा आराम जिस प्रकार बाह्य विषयों से निरपेक्ष होकर अन्तरात्मा को आश्रय कर ही रहते हैं उसी प्रकार वह केवल 'अन्तर्ज्योतिः' ही हैं, अर्थात् केवल अन्तर आत्मा ही उसकी ज्योति अर्थात् प्रकाश है। [उसका सुख जिस प्रकार अन्तरात्मा से होता है (बाह्य विषय से नहीं), उसी प्रकार अन्तर आत्मा से ही उसकी ज्योतिः (विज्ञान) होती है किन्तु बहिरिन्द्रियों से नहीं, उसकी बहिरिन्द्रियों का व्यापार नहीं होता है। (अतः श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा जो शब्दादिविषयक विज्ञान उत्पन्न होता है वह उसको नहीं होता है) किन्तु आत्मा की ज्योतिः

हो (अर्थात् आत्मज्ञान ही) उसके हृदय में सदा प्रकाशित रहती है। (मधुसूदन)] अभिप्राय यह है कि समाधि अवस्था में आत्मनिष्ठ योगी को शब्दादि विषयों का ज्ञान नहीं होता है एवं व्युत्थानावस्था में शब्दादि विषयों का अवभास (प्रतीति) होने से भी उनका मिथ्यात्व निश्चित रहने के कारण उनकी प्रतीति भी अप्रकाश की तरह ही होती है। [इस स्थान में 'एवं' शब्द तीनों विशेषणों के साथ ही सम्बन्धविशिष्ट है अर्थात् 'अन्तःसुख एव' (केवल अन्तःसुख) 'अन्तराराम एव' (केवल अन्तराराम) 'अन्तर्ज्योतिरेव' (केवल अन्तर्ज्योतिः) ऐसा अन्वय करना पड़ेगा। जो विशेषण यहाँ कहे गये हैं वे सभी स्थितप्रज्ञ के लक्षण हैं। अतः कहा जा रहा है (मधुसूदन)]

सः योगी—जो उक्त विशेषणों से (गुणों से) विशिष्ट है अर्थात् जो अन्तःसुख, अन्तराराम एवं अन्तर्ज्योतिः हैं वह समाहित योगी ब्रह्मभूतः—इस श्लोक में जीवितावस्था में हो ब्रह्मभाव प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म में आत्मभाव कर ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति—ब्रह्म-निर्वाण (निर्वृत्ति या मोक्ष)को प्राप्त होते हैं। निर्वाण या निर्वृत्ति शब्द का अर्थ मुख्यरूप से मोक्ष (संसार से मुक्ति) माने जाने पर भी कोष के अनुसार इसका अर्थ 'सुख, शान्ति, अस्तगमन (नाश), सिद्धि, अभय, विराम, मिलन' इत्यादि भी होते हैं। इन अर्थों का समन्वय कर 'ब्रह्मनिर्वाणमधिगच्छति' वाक्य का अर्थ ऐसा होगा—तत्त्वज्ञान के द्वारा ब्रह्मभूत होने पर अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त होने पर सर्वप्रपंच की (कल्पित द्वैतप्रपंच की एवं उस के कारण अविद्या की) उपशान्ति—(नाश) होता है एवं तदनन्तर परिपूर्ण ब्रह्म के साथ एकात्मता या मिलन—अनुभव कर ज्ञाननिष्ठा की सिद्धि—लाभ कर ब्रह्म के स्वरूपभूत नित्य अव्यय सुख (परमानन्द) एवं अभय—रूप मोक्षपद प्राप्त होता है। वही जीव की चरम विराम—अवस्था है। श्रुति में भी ऐसा कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृह० उ० ४।४।६) अर्थात् ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। प्रारब्धवश जबतक शरीर रहता है तब तक जीवन्मुक्तावस्था में रहकर देहपात के बाद ब्रह्मवित् विदेहकैवल्य को प्राप्त करते हैं। [ब्रह्म ही परमानन्द हैं, ब्रह्म ही अभय है, ब्रह्म ही मोक्ष है अतः एकमात्र ब्रह्मप्राप्ति से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है। ब्रह्म नित्य-सिद्ध है, अतः प्राप्ति शब्द का अर्थ है—अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति। कहने का अभिप्राय यह है कि द्वैतप्रपञ्च अज्ञान से कल्पित है, अतः मिथ्या है। कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान से पृथक् नहीं हो सकती है। ब्रह्म ही कल्पित

मिथ्या प्रपञ्च का अधिष्ठानस्वरूप होने के कारण अविद्यारूप आवरण की निवृत्ति होने से ही नित्यप्राप्त ब्रह्म को (अपने यथार्थ स्वरूप को) उक्त विशेषणविशिष्ट जीव प्राप्त करता है अर्थात् जीव का अपना स्वरूप जो चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म (परमात्मा) है वह प्रकाशित होता है। इसलिए वेदान्त सूत्र में कहा गया है—'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' (वेदान्त० द० १।४।२२) अर्थात् काशकृत्स्न आचार्य कहते हैं कि परमात्मा ही जीवरूप में अवस्थित है]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[केवल काम क्रोध के वेग को सहन करने से ही मोक्षप्राप्त नहीं होता है, किन्तु यः अन्तःसुखः—अन्तः अर्थात् अन्तर आत्मा में ही जिसका सुख है—विषयों में नहीं, अन्तरारामः—अन्तरात्मा में ही जिसकी आराम या क्रीड़ा (रमण) है—बाह्य विषयों में जो रमण नहीं करता है। यः अन्तर्ज्योतिः—अन्तरात्मा में ही जिसकी ज्योति यानी दृष्टि है—नृत्य, गीत आदि में नहीं। ऐसा पुरुष ब्रह्मभूतः (सन्)—ब्रह्म में भूत अर्थात् स्थित होकर **ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति**—ब्रह्म में ही निर्वाण अर्थात् लय को प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्म में लीन हो जाता है।

(२) शंकरानन्द—नित्यानित्यविवेक, वैराग्य एवं तीव्र मोक्षेच्छा से सब कुछ का संन्यास (त्याग) कर रामादि अन्तरंग साधन-सम्पत्ति के द्वारा श्रवण तथा मनन करके उन श्रवण-मनन से उत्पन्न आत्मविज्ञान जिस यति को प्राप्त हुआ है, वह स्वयं विदेहकैवल्यार्थी होकर ब्रह्मनिष्ठा में ही यदि स्थित रहे, तो उन्हें मुक्ति प्राप्त होती है, अन्य प्रकार से नहीं, इसे सूचित करने के लिए कह रहे हैं—

यः योगी—श्रवण तथा मनन के द्वारा समुत्पन्न हुए आत्मविज्ञान के परिपाक के लिए समाधिनिष्ठा में प्रवृत्त हुआ है जो ब्रह्मवित् यति **सः अन्तर्ज्योति एव (भवेत्)**—वह सदा अन्तर्ज्योतिः ही होता है। 'एव' शब्द का सर्वत्र सम्बन्ध है, यथा 'अन्तःसुख एव', 'अन्तराराम एव' इत्यादि। 'सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (सबसे अन्तरतर जो है वह यह आत्मा ही है) इस श्रुति वाक्य से सभी के भीतर होने के कारण आत्मा ही यहाँ 'अन्तः' शब्द के द्वारा लक्षित हुआ है अर्थात् अन्तः शब्द का अर्थ है आत्मा। 'मनोज्योतिरिति' इस प्रकार श्रुतिवाक्य के द्वारा 'ज्योतिः' शब्द का अर्थ यहाँ मन है। अन्तरात्मा में ही ज्योतिः अर्थात् मन जिसका है वह अन्तर्ज्योतिः ही होता है—कभी भी बाह्य ज्योतिः नहीं होता है अर्थात् वह सर्वदा एवं सर्वत्र आत्मा को ही देखता है, बाह्यवस्तु को नहीं, यही भावार्थ है।

अन्तरारामः—अन्तर में अर्थात् आत्मा में ही आरमण अर्थात् अहं-बुद्धि को क्रीड़ा जिसकी रहती है, अनात्माराम कभी नहीं होता है अर्थात् आत्मा में ही सदा अहंबुद्धि करता है। अनात्मा में (देहेन्द्रियादि में) कभी भी अहंबुद्धि नहीं करता है। इस प्रकार जो अन्तःसुख—अन्य किसी साधन की अपेक्षा न कर सदा अपनी आत्मा में ही सुखी रहता है अर्थात् सदा आत्मसुख या आत्मानन्द भोग कर आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है सः योगी—वह योगी ब्रह्मभूतः (सन्)—स्वयं ही निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा ब्रह्मभूत होकर अर्थात् निःशेषरूप से (सम्पूर्णरूप से) देहात्मभाव का त्याग कर ब्रह्म में ही आत्मभाव प्राप्त होकर ब्रह्मनिर्वाणं—विदेहकैवल्यसुख को अधिगच्छति—प्राप्त होता है। उक्त लक्षणों से सम्पन्न योगी ही विदेहमुक्ति को प्राप्त होता है—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्वश्लोकोक्त काम तथा क्रोध के वेग को सहन करने में कौन समर्थ होते हैं ? एवं उस सहन का फल क्या है ? यह अब स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है। जो अन्तःसुख—हैं [बाह्यविषयों के सुख भोग की इच्छा का त्याग कर जो सर्वदा केवल अन्तः अर्थात् आत्मा के स्वरूपभूत सुख का (आत्मानन्द का) अनुभव करते हैं] वे ही काम तथा क्रोध के वेग को सहन कर सकते हैं। अन्तःसुख में (आत्मानन्द में) मग्न कब होते हैं ? जब वे ज्ञानी—योगी अन्तराराम होते हैं (स्त्री पुत्रादि में रमण न कर अन्तः अर्थात् आत्मा में ही निरन्तर रमण करते हैं) तब वे अन्तःसुख होते हैं। आत्माराम होना कैसे सम्भव है ? जब योगी अन्तर्ज्योतिः होते हैं।—श्रुति में कहा गया है—'मनोज्योतिरिति' अर्थात् मन ही ज्योति है। अतः जिनका मन विषय में दोष दर्शन कर विषयों से उपरत होकर वेदान्त—महावाक्यादि का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा अन्तः में ही अर्थात् अखंड चिदेकरस ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही समाहित रहता है उन्हें अन्तःज्योतिः—कहा जाता है। इस प्रकार 'अन्तःज्योतिः' होने से ही 'अन्तराराम' होना सम्भव है। ऐसे योगी ब्रह्मभूत होकर अर्थात् निरन्तर ब्रह्म में स्थितिलाभ कर ब्रह्मनिर्वाण को [ब्रह्म ही निर्वाण, (मोक्ष) है, उस ब्रह्मरूप मोक्ष को] प्राप्त होते हैं। 'ब्रह्मनिर्वाणम् अधिगच्छति'—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि ब्राह्मीस्थिति ही निर्वाण (मोक्ष) है और 'अधिगच्छति' (अधिकृतम् अपि तत् गच्छति) शब्द के द्वारा श्रीभगवान् यही सूचित कर रहे हैं कि ब्रह्म सभी की आत्मा होने के कारण वह जीवमात्र को ही अधिकृत (नित्यप्राप्त) है। अतः ब्रह्मरूप निर्वाण (ब्रह्म के स्वरूपभूत परमानन्दरूप,

परमाभयरूप एवं परमशान्तिरूप मोक्ष भी) जीव का स्वतः ही 'अधि' अर्थात् अधिकृत है। अज्ञान के द्वारा जीव का ज्ञान आवृत रहने के कारण जीव वह समझ नहीं पाता है (गीता ५।१५)। अज्ञान नष्ट होने से जब जीव अन्तः-सुख, अन्तराराम तथा अन्तर्ज्योतिः होता है तब वह अपने स्वरूपगत निर्वाणको उपलब्ध कर सकता है अर्थात् वह सदा ही मुक्त था, अभी भी है एवं भविष्य में भी रहेगा, यह साक्षात् अनुभव करता है। इस प्रकार वह नित्यमुक्त होने पर भी मानों उस ब्रह्मरूप निर्वाण को 'गच्छति' अर्थात् प्राप्त हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

[ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है। पूर्वश्लोक में ज्ञाननिष्ठ ब्रह्मभूत योगी ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं यह कहा गया है। अब ज्ञान का अन्यान्य साधन विवृत करने के लिए कह रहे हैं—]

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

अन्वयः—क्षीणकल्मषाः छिन्नद्वैधाः यतात्मानः ऋषयः सर्वभूतहिते रताः (सन्तः) ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते।

अनुवाद—निष्पाप, संशयशून्य, संयतेन्द्रिय, सर्वभूतों के हित में अर्थात् अनुकूल आचरण में रत, सम्यग्दर्शी यतिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।

भाष्यदीपिका—क्षीणकल्मषाः—(पहले ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम-रूप से शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मादि के अनुष्ठान के द्वारा) जिनका कल्मष अर्थात् पापादि दोष का क्षय हो गया है वे तथा छिन्नद्वैधाः—जिनका सभी संशय छिन्न (नष्ट) हो गए हैं, वे [पापादि दोष निवृत्त हो जाने के कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है एवं उस कारण जिनको सूक्ष्म-वस्तु की विवेचना में सामर्थ्यलाभ हुआ है तथा श्रवणादि द्वारा आत्मा का सत्यत्व एवं आत्मातिरिक्त सभी वस्तु के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में सभी प्रकार के संशय छिन्न (निवृत्त) हो गये हैं वे लोग]। एवं यतात्मानः—(छिन्न संशय होकर) जिनकी इन्द्रियाँ संयत हुई हैं। [श्रवण तथा मनन के द्वारा संशयछिन्न होने के बाद निदिध्यासन के द्वारा जो संयतेन्द्रिय हुए हैं उनको विषयों का मिथ्यात्व निश्चित होने पर उनकी इन्द्रियाँ और विषयाभिमुख (विषयो के प्रति आसक्त) नहीं होती हैं। अतः उस अवस्था में विक्षेप का

कारण नहीं रहने से निदिध्यासन के द्वारा अन्तःकरण आत्मा में ही (परमात्मा में ही) समाहित रहता है। इस प्रकार समाहित (एकाग्रचित्त) योगियों को 'यतात्मानः' कहा जाता है]। निष्पाप, संशयशून्य तथा यतात्मा होने पर क्या होता है ? वह कहा जा रहा है—

ऋषयः—उक्त गुणों से विशिष्ट सम्यग्‌दर्शी (सम्यग्‌ज्ञानी) संन्यासियों। ऋषि शब्द का अर्थ है तत्त्वद्रष्टा—'ऋषि तत्त्वार्थदर्शने' इति धातुः। सम्यग्‌दर्शी होने पर द्वैतबुद्धि और नहीं रहती—सर्वत्र एक ही आत्मा का विकास अनुभूत होता है। अतः ऐसे ऋषियों सर्वभूतहिते रताः—सर्वभूतों के (सर्वप्राणियों के) हित अर्थात् अनुकूल आचरण करने में तत्पर रहते हैं अर्थात् किसी की भी हिंसा न कर सभी के लिए अनुकूल तथा कल्याणकारी कार्य करने में व्याप्रृत रहते हैं। श्रुति में भी कहा गया है-यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते' (ईशा० उ० ६) अर्थात् जो सभी भूत को (ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सभी वस्तु को) आत्मा में ही देखते हैं (अर्थात् आत्मा से भिन्न नहीं देखते हैं) एवं समस्त भूतों में आत्मा को ही देखते हैं वे (सर्वत्र आत्मा का दर्शन करते हुए) किसी की भी घृणा (हिंसा) नहीं करते हैं।

ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते—इस प्रकार ऋषिलोग पूर्व श्लोकोक्त ब्रह्मरूप निर्वाण (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। 'स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः' (गीता ५।१०) इत्यादि के द्वारा पहले भी यह बात ही कही गई है। मुमुक्षु शास्त्रविहित नित्य नैमित्तिक कर्मादि को निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान कर शुद्धचित्त होकर श्रवणादि के द्वारा जगत् के मिथ्यात्व एवं ब्रह्म या आत्मा के नित्यत्व तथा सत्यत्व के सम्बन्ध में सर्वसंशय रहित होकर निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्म में चित्त स्थिर कर (अर्थात् समाहित चित्त होकर) सर्वत्र आत्मदर्शन करते हैं एवं सर्वभूत में समभाव से अवस्थित एक ही आत्मा का दर्शन कर सर्वभूतों के हितों में रत होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण रूप से अहिंसक होते हैं। आत्मा सर्वापेक्षा प्रियतम है। अतः वे उस अवस्था में जो कुछ करते हैं वह सर्वत्र विद्यमान आत्मा के हित या तृप्ति के लिए ही (अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही) होता है। उसके पश्चात् पूर्व-श्लोक में (५।२४) उक्त गुणों से विशिष्ट होकर अर्थात् अन्तःसुख, अन्तरा-राम, अन्तर्ज्योतिः एवं ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं यही २४ तथा २५ श्लोक का तात्पर्य है।

२५ वें श्लोक में आरुरुक्षु योगी की अवस्था (साधन अवस्था) एवं

२४ वें श्लोक में आरूढ योगी की अवस्था (सिद्धावस्था अर्थात् स्थितप्रज्ञ की अवस्था) वर्णित हुई हैं। यही विशेषता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में सांख्य तथा योग का फल एक ही है, ऐसा कहा गया है (५।४)। उसका अत्र उपसंहार कर साधन तथा सिद्धावस्था का अन्तिम फल एक (ब्रह्मनिर्वाण) ही होता है, यही कहा गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पुनः—] **क्षीणकल्मषाः**—क्षीण (नष्ट) हुए हैं कल्मष (पाप) जिनका **छिन्नद्वैधाः**—छिन्न (नष्ट) हुई है द्विधा (संशय) जिनका **यतात्मानः**—यत (संयत—जीता हुआ है) आत्मा (चित्त) जिनका तथा **सर्वभूतहिते रताः**—सभी प्राणियों के हित में (हित साधन में) रत हैं ऐसे कृपालु **ऋषयः**—सम्यग्दर्शी यतिगण **ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते**—ब्रह्म में निर्वाण (ऐक्यानुभवरूप मोक्ष) प्राप्त होते हैं।

(२) शंकरानन्द—सभी कल्मष (अन्तःकरण के दोष) प्रकृष्टरूप से क्षीण हो जाने के कारण छिन्नद्वैधत्व, यतात्मत्व आदि धर्म के द्वारा विशिष्ट होकर जो सदा आत्मा में ही रमण करते हैं वे विदेहमुक्ति प्राप्त होते हैं, यही अब कह रहे हैं—

यतात्मानः—यत (संयत) आत्मा (मन) जिनका है अर्थात् जिनका मन बाह्यविषयों की प्रवणता से (प्रबल आकर्षण से) विमुख हुआ है उन्हें यतात्मा (अर्थात् सर्वप्रकार से निरुद्धान्तःकरण) कहा जाता है। ऐसा होकर एवं **सर्वभूतहिते रताः**—'तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा' (वह यह आत्मा है जो अन्तरतर है, पुत्र से प्रिय है, वित्त से प्रिय है, अन्य सभी वस्तुओं से प्रिय है) इस प्रकार श्रुतिवाक्यके द्वारा एवं आत्मा आनन्दस्वरूप होने के कारण ब्रह्मा से स्तम्ब तक सभी भूतोंके प्रिय एकमात्र आत्मा ही हित है। उस सर्वभूतों के हित में ही (अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही) जो रत (निरत) रहते हैं ऐसे ऋषियों या यतिगण ही 'सर्वभूतहिते रताः' हैं। ऐसा होकर अर्थात् सदा आत्मा में ही रमण करते हुए आत्मनिष्ठा के द्वारा **क्षीणकल्मषाः**—जिनका कल्मष [अर्थात् मन के वासनारूप कषाय (दोष)] क्षीण [निःशेष क्षय (नष्ट)] हो गया है अर्थात् ब्रह्मयोगनिष्ठा के द्वारा जिनके अन्तःकरण के सभी दोष निर्धूत (सम्पूर्णरूप से नष्ट) हो गये हैं (धूल गये हैं) उनक **छिन्नद्वैधाः**—समुत्पन्न आत्मयाथात्म्यविज्ञान के द्वारा द्वैध (सभी संशय) छिन्न (नष्ट) हो जाने के कारण वे 'छिन्नद्वैध' होते हैं। कोई अर्थ अर्थात् विषय सम्बन्ध में निश्चित बुद्धि न रहने के कारण उसके बारे में यदि दो प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं

तो उसको द्वैध (संशय) कहते हैं। यथा—'यह स्थाणु है या पुरुष है?' इस प्रकार स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व की बुद्धि का एकत्र समावेश होने से संशय (द्वैध) अवश्य उत्पन्न होता है। यहाँ भी आत्मरूप विषय को अवलम्बन कर द्वैविध्य अर्थात् द्विधा या संशय (दो प्रकार के विषयज्ञान) अज्ञानी को होता है। वह कैसे? उत्तर में कहा जा रहा है—(क) आत्मा चिद्रूप है या अचिद्रूप? (ख) चिद्रूप होने पर भी वह नित्य है या अनित्य? (ग) नित्य होने पर भी वह देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है या अभिन्न है? (घ) भिन्न होने पर भी उसका देहादि के साथ सम्बन्ध है या नहीं? (ङ) यदि देहादि के साथ आत्मा असंस्पृष्ट (सम्बन्धरहित) हो तो भी आत्मा स्वयं कर्तृत्वादि-धर्मविशिष्ट है या नहीं? (च) कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट न होने पर भी आत्मा स्वयं असंग है या नहीं? (छ) असंग होने पर भी देहादि के द्वारा कृत कर्मों के द्वारा लिप्त होती है या नहीं? (ज) कर्म के द्वारा लिप्त न होने पर भी स्वयं ब्रह्म से अभिन्न है या नहीं? (झ) ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी मुझे आत्मा तथा ब्रह्म का एकत्वविज्ञान उत्पन्न हुआ है या नहीं? (ञ) एकात्म विज्ञान उत्पन्न होने पर भी वह ज्ञान यथार्थ है या अयथार्थ? (ट) यदि यथार्थ हो तो वह मुक्ति का साधक है या असाधक? (ठ) मुक्ति का साधक होने से भी जीवन्मुक्ति है या नहीं? (ड) जीवन्मुक्ति होने से भी विदेहमुक्ति सिद्ध होती है या नहीं? इत्यादि संशय उत्पन्न होते हैं। ये समस्त द्वैध या संशय पूर्वोक्त ज्ञान के द्वारा जिनका छिन्न अर्थात् विनष्ट हुए हैं वे 'छिन्नद्वैध' हैं। ऐसा होकर ऋषिगण अर्थात् यतिगण ब्रह्मनिर्वाणं—विदेहकैवल्य को लभन्ते—प्राप्त होते हैं।

(३) नारायणी टीका—जिन साधनों के द्वारा योगी पूर्वश्लोकोक्त गुणों से विशिष्ट होकर तथा ब्रह्मभूत होकर (ब्रह्म में स्थित होकर अथवा ब्रह्मस्वरूप प्राप्त होकर) ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं यह अब कहा जा रहा है। पहले निष्काम रूप से ईश्वरार्पण बुद्धि से अपने अपने आश्रमोचित नित्यनैमित्तिक यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा क्षीणकल्मष—होकर (पापादिदोष क्षय कर) चित्तशुद्धि प्राप्त कर मुमुक्षु (२) ऋषि—होते हैं अर्थात् सूक्ष्मवस्तु की विवेचना करने में समर्थ होते हैं। आत्मा अति सूक्ष्म वस्तु है। जब तक चित्त (बुद्धि) शुद्ध न हो तब तक सैकड़ों बार आत्मा के विषय में सुनकर भी आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। अतः ऋषि होकर सर्वकर्मत्याग कर (अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से मुक्त होकर) (३) गुरुमुख से वेदान्त महावाक्य

('तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि) श्रवण तथा मनन (विचार) कर जब उनकी आत्मा के सम्बन्ध में सभी द्विधा (संशय) छिन्न हो जाती हैं (निवृत्त होती हैं) तब वे छिन्नद्वैध—होकर (४) निदिध्यासन के (समाधि के अभ्यास की परिपक्वता द्वारा यतात्मा—होते हैं अर्थात् उनकी आत्मा (अन्तः-करण) अखंडाद्वय चैतन्यस्वरूप आत्मा में ही यत (समाहित) रहता है। इस अवस्था में वे स्वभावतः ही (५) सर्वभूतहितरत—होते हैं। निरुपाधिक शुद्ध आत्मा ही सभी प्राणियों का यथार्थ 'हित' है क्योंकि आत्मा ही एकमात्र सुहृत् है (गीता ५।२९)। आत्मा के स्वरूप में स्थित रहने से ही संसार-दुःख से मुक्त होकर परमानन्द को प्राप्त करना सम्भव है। आत्मा के अतिरिक्त और जो कुछ है वे सभी 'अहित' हैं क्योंकि वे सभी जीवको निजानन्द से विच्युत कर संसार दुःख में निक्षिप्त कर देता है। ऋषि (विचारशील एवं बाह्य सर्व कर्म त्यागी संन्यासी) यतात्मा होने से (आत्मा में स्थित होने से) आत्मा का साक्षात्कार कर प्रत्यक्षरूप से ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य अनुभव करते हैं एवं साथ साथ यह भी अनुभव करते हैं कि वह अखण्डाद्वय आनन्दघन मोक्ष स्वरूप ब्रह्म सभी की आत्मा है। ऐसा जानकर वे केवल अपनी आत्मा में ही नहीं किन्तु सर्वभूतों के हित में (अर्थात् आत्मा में) रत रहते हैं। सर्वत्र एवं सर्वदा एक ही आत्मा का दर्शन होने के कारण वे व्युत्थानावस्था में (बाह्य व्यवहार में) भी समदर्शी ही रहते हैं [अर्थात् पूर्णरूप से अहिंसक होते हैं क्योंकि आत्मा आत्मा की हिंसा नहीं कर सकती] ऐसी अवस्था प्राप्त होने के बाद ही तत्त्वज्ञानी पूर्वश्लोकोक्त गुणों से विशिष्ट होकर अर्थात् क्रमशः ब्रह्मभूत, अन्तर्ज्योतिः, अन्तराराम तथा अन्तःसुख होकर ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करते हैं! इस श्लोक में मोक्ष की साधनावस्था तथा २४ वें श्लोक में उसकी सिद्ध अवस्था सूचित हुई है। 'जिसको ब्रह्मात्मैकत्व का सांक्षात्कार होगा वही ब्रह्मभाव प्राप्त होकर मुक्त होगा' यह कहने के अभिप्राय से ही वर्तमान श्लोक में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

[२३ वें श्लोक में कहा गया है कि काम तथा क्रोध उत्पन्न होने पर भी उनके वेग को सहन करने से युक्त तथा सुखी होना सम्भव है। ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य साक्षात्कार कर सम्यग्दर्शी होने पर भी यदि मनोनाश तथा वासनाक्षय सम्पूर्णरूप से न हो तो जीवितावस्था में जीवन्मुक्ति का आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है। अन्तःकरण में जब तक काम-क्रोध की उत्पत्ति होगी तब तक समझना पड़ेगा कि मनोनाश नहीं हुआ है,

अतः वासना का क्षय भी नहीं हुआ है अर्थात् वासना का सूक्ष्मबीज अब भी विद्यमान है। अतः जीवन्मुक्ति के आनन्द को भोग करने के लिए काम तथा क्रोध का परिहार (त्याग) करना पड़ेगा यह अब कहा जा रहा है—]

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—कामक्रोधवियुक्तानां यतचेतसां विदितात्मनां यतीनाम् ब्रह्मनिर्वाणम् अभितः वर्तते ।

अनुवाद—काम तथा क्रोध विहीन संयतचित्त एवं सम्यग् दर्शी (आत्मतत्त्वज्ञ) यतिगण उभयतः (जीवितावस्था में एवं देहपात के बाद) ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं।

भाष्यदीपिका—कामक्रोधवियुक्तानां यतीनाम्—काम एक इच्छा विशेष है अर्थात् यदि किसी वस्तु में इष्टता-बुद्धि रहे (यह मेरी अभिलषित वस्तु है—इसे प्राप्त करना होगा ऐसी बुद्धि रहे) एवं उस बुद्धि के द्वारा प्रेरित होकर (उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए) यदि मन की वाह्यविषय के प्रति प्रवृत्ति हो तो उसे काम कहा जाता है। कोई वस्तु या व्यक्ति यदि उस काम की सिद्धि में बाधा (विघ्न) डाले तो उसके प्रति अनिष्टताबुद्धि के द्वारा (प्रतिकूल बुद्धि के द्वारा) जो मन की बहिः प्रवृत्ति होती है उसे क्रोध कहा जाता है।

[वियोग शब्द का अर्थ है अनुत्पत्ति। जिनके चित्त में किसी समय में भी काम (तृष्णा) एवं क्रोध उत्पन्न नहीं होते हैं उन्हें 'काम क्रोध वियुक्त' कहा जाता है (मधुसूदन)]। चित्त में जिस समय काम तथा क्रोध की उत्पत्ति होती है उस समय विवेक-ज्ञान के द्वारा उसके वेग को सहन करने से भी काम क्रोध जनित विक्षेप सामयिक रूप से चित्त को विचलित अवश्य ही कर देता है। इसलिए जो लोग २४ वें श्लोक में उक्त आत्मसुख, आत्माराम अवस्था की प्राप्ति करने को इच्छुक हैं वे अवश्य ही काम तथा क्रोध से रहित होंगे इसे सूचित करने के लिए पुनः पुनः काम क्रोध का त्याग करने के लिये श्रीभगवान् ने पूर्व अध्यायों में कहने पर भी ताकि इन अवश्य कर्त्तव्य को अर्जुन भूल न जाय इसलिए पुनः स्मरण कराने के लिए इस श्लोक में कहा कि काम तथा क्रोध के वियोग विशिष्ट यतियों को अर्थात् जिनके अन्तकरण में काम तथा क्रोध की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसे

(काम क्रोध वियुक्त) यतियों के (यत्नशील संन्यासियों के) एवं यतचेतसाम्—जो लोग संयत चित्त हुए हैं अर्थात् जिनका चित्त सर्वात्मा प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में ही यत (नियम पूर्वक स्थित रहता है) अर्थात् जो सर्वदा ही परब्रह्म में ही समाहित रहते हैं उनके एवं विदितात्मनाम्—आत्मज्ञानी सम्यग् दर्शियों के [जो लोग निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त किये हैं अर्थात् निर्विशेष सर्वात्मा को 'मैं ही वह हूँ, इस प्रकार साक्षात् आत्मरूप से जान गये हैं उनके] अभितः—उभयतः अर्थात् जीविता-वस्था में एवं मृत्यु के बाद इन दोनों दशा में ही ब्रह्मनिर्वाणम्–ब्रह्मानन्दानुभव रूप मोक्ष वर्तते—वर्तमान रहता है। [मोक्ष नित्य है अतः वह सर्वदा ही वर्तमान है। अतः जो पहले नहीं था ऐसा मोक्ष उन्हें प्राप्त होगा ऐसी बात नहीं। मोक्ष साध्य नहीं है अर्थात् किसी क्रिया के द्वारा मोक्ष उत्पन्न नहीं होता है। जिसकी उत्पत्ति होती है अर्थात् क्रियासाध्य है वह विनाशशील तथा अनित्य भी होगा। मोक्ष नित्यसिद्ध होने के कारण सदा ही सभी को स्वतः प्राप्त है। अविद्या के द्वारा वह आवृत रहता है और अविद्यारूप आवरण का नाश होने से उसका प्रकाश होने पर वह प्राप्त हुआ ऐसा अनुभव होता है अर्थात् मानों अप्राप्त मोक्ष की प्राप्ति हुई है ऐसा प्रतीत होता है। यही 'अभितः वर्तते' पद का तात्पर्य है।

टीप्पणी (१) श्रीधर—[पुनः—] कामक्रोधवियुक्तानाम्—काम तथा क्रोध से वियुक्त (मुक्त) यतचेतसाम्—संयत चित्त विदितात्मनाम्—आत्मतत्त्वज्ञ यतीनां—संन्यासियों का अभितः—उभयतः अर्थात् जीविता-वस्था में एवं मरण के बाद भी ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते—ब्रह्म में लय होता है अर्थात् मुक्ति होती है। देह का अन्त होने से ही जो वे ब्रह्म में लय प्राप्त होते हैं ऐसी बात नहीं परन्तु जीवितावस्था में भी वे ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं अर्थात् (जीवन्मुक्त) हो जाते हैं।

(२) शंकरानन्द—काम तथा क्रोध से रहित तथा सदा आत्मनिष्ठा में स्थित यतियों की ही जीवन्मुक्ति का सुख और विदेह मुक्ति का सुख सिद्ध होता है—दूसरों की नहीं, इस अभिप्राय से अब कह रहे हैं—

कामक्रोधवियुक्तानाम्—इच्छाविशेष को काम कहा जाता है। वह काम वस्तुओं में इष्टताबुद्धि उत्पन्न कर मन को बाह्यविषयों में प्रवृत्त करता है। काम का व्याघात होनेपर विघ्नकारी कोई वस्तु या व्यक्ति के प्रति अनिष्टता-बुद्धि से मन की बाह्य प्रवृत्ति का हेतुभूत जो बुद्धिवृत्ति विशेष उत्पन्न होता है वही क्रोध है। यह काम तथा क्रोध दोनों ही श्रवण, मनन तथा समाधि के

विच्छेद का (विनाश का) परम कारण होता है अर्थात् काम तथा क्रोधयुक्त पुरुष को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता क्योंकि उसकी समाधि कभी सिद्ध नहीं होती। काम क्रोध से समाधि विच्छिन्न हो जाने के कारण सैकड़ों बार वेदान्त-वाक्य का श्रवण करने पर भी श्रोता को सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं होता है और उस ज्ञान के अभाव से मोक्ष भी नहीं होता। अतः समाधि के लिए इच्छुक मुमुक्षु यति को काम तथा क्रोध रहित होना अवश्य कर्तव्य है। इससे पहले बार-बार कहे जाने पर भी कामक्रोध का परित्याग करना पड़ेगा, इस बात का विस्मरण न हो इसलिये पुनः 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' इस वाक्य के द्वारा स्मरण करा रहे हैं। इस प्रकार उक्त लक्षणों से विशिष्ट तथा कामक्रोध से वियुक्त (रहित) शान्त यतियों का **यतचेतसां**—चित्त सर्वप्राणियों के आत्म-स्वरूप प्रत्यगभिन्न ब्रह्म में ही यत अर्थात् नियमपूर्वक स्थित रहता है। इस प्रकार निरन्तर ब्रह्म में ही स्थित यति **विदितात्मनाम्**—'यह मैं ही हूँ' अर्थात् अपने आत्मरूप से सर्वात्मक आत्मा को अर्थात् निर्विशेष परमात्मा को जान लेते हैं। अतः उन सम्यक् प्रकार से आत्मज्ञानी का (ब्रह्मविदों का) **अभितः**—उभयतः अर्थात् जीवित दशा में एवं विदेहदशा में, अर्थात् दोनों अवस्था में ही **ब्रह्मनिर्वाणं**—ब्रह्मरूप निर्वाण की अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति **वर्तते**—सिद्ध होती है। इसके द्वारा सूचित हो रहा है कि विक्षेप के कारण काम-क्रोध आदि को दूर से ही त्याग कर जो यति समाधिनिष्ठा में ही स्थित रहते हैं उनको सम्यग्ज्ञान एवं उसका फल (मोक्ष) अवश्य प्राप्त होता है।

(३) **नारायणी टीका**—जो लोग कामक्रोध से रहित हैं, यतचित्त हैं एवं शुद्धचैतन्यस्वरूप अद्वय ब्रह्म का साक्षात्कार कर 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार आत्मा का स्वरूप जिनको विदित हुआ हैं वे जीवद्दशा में एवं मृत्यु के बाद दोनों अवस्था में ही संसार प्रपंच से मुक्त रहते हैं अर्थात् आत्मज्ञान प्राप्त कर जबतक प्रारब्धवश जीवनधारण करते हैं तबतक जीवन्मुक्ति का परम आनन्द उपभोग करते हैं एवं देहपात के बाद विदेहकैवल्य प्राप्त कर परमानन्द स्वरूप ही हो जाते हैं। २४ वें श्लोक में जो स्थितप्रज्ञ की अवस्था वर्णित की गयी है उसका साधन २५ तथा २६ वें श्लोकों में कहा गया है। 'कामक्रोध-वियुक्तानाम्' यह शब्द ही २६ वें श्लोक की विशेष—बात है चूँकि इसके अतिरिक्त इस श्लोक में और जो कुछ कहा गया है यथा 'यतीनां यतचेतसां विदितात्मनाम्', वह २५ वें श्लोक में भी 'यतात्मानः ऋषयः' शब्दों से कहा गया है। मनोनाश तथा वासनाक्षय नहीं होने पर कोई भी काम तथा क्रोध से बराबर के लिए वियुक्त नहीं हो सकता है। अतः 'कामक्रोधवियुक्तानाम्'

शब्द के द्वारा इस श्लोक में यही सूचित किया गया कि ब्रह्मवित् पुरुष केवल तत्त्वज्ञान प्राप्त करने से ही जीवन्मुक्त नहीं होता है परन्तु उसके मनोनाश तथा वासनाक्षय भी होना आवश्यक है क्योंकि ऐसा न होने पर जीवन्मुक्ति का आनन्दभोग नहीं हो सकता है। 'अभितः' शब्द के द्वारा यही स्पष्ट किया गया कि तत्त्वज्ञान होने पर देहपात के बाद वह (तत्त्वज्ञानी) अवश्य ही विदेहकैवल्य (मुक्ति) को प्राप्त होगा, इस विषय में कोई संशय नहीं है। किन्तु मनोनाश एवं वासनाक्षय होने पर काम तथा क्रोधशून्य होकर जीवितावस्था में भी तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्ति का आनन्द (अर्थात् मोक्ष सुख) उपभोग करने में समर्थ होगा।

[सम्यग्‌दर्शननिष्ठ संन्यासियों की मुक्ति होती है इसे पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में विशेषरूप से कहा गया है। ईश्वर में अर्थात् परब्रह्म में सर्वभाव से समर्पणपूर्वक जो निष्काम कर्म का अनुष्ठान किया जाता है उसी का नाम है कर्मयोग। वह कर्मयोग क्रमशः, सत्त्वशुद्धि, ज्ञानप्राप्ति एवं सर्वकर्मसंन्यास (ज्ञाननिष्ठा) के द्वारा मोक्ष का साधन होता है यही बात श्रीभगवान् बार बार कहे हैं, एवं कहेंगे। अब सम्यग् दर्शन का अन्तरंग साधन जो ध्यान-योग है उसे विस्तृतरूप से वर्णन करने के लिए सूत्र के रूप से अब तीन श्लोकों में उपदेश दे रहे हैं। समग्र षष्ठ अध्याय इन तीनों श्लोकों की ही व्याख्या है। इन तीन श्लोकों में प्रथम दो श्लोकों में संक्षेप से योग साधन के सम्बन्ध में कहा गया है और तृतीय श्लोक में (२९ वें श्लोक में) उस योग का फल रूप से जो परमात्मतत्त्वज्ञान प्राप्त होता है उसका निर्देश किया गया है]।

स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥

अन्वयः—यः मोक्षपरायणः मुनिः बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा (तथा) भ्रुवोः अन्तरे चक्षुः (कृत्वा) च नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणाप्राणौ च समौ कृत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (तथा) विगतेच्छाभयक्रोधः (स्यात्) सः सदा मुक्तः एव।

अनुवाद—जो मुनि मोक्षपरायण होकर बाह्यविषयों को मन से बाहर रखकर दोनों भ्रू (भौंहों) के बीच में आँख की दृष्टि को स्थिर रखकर

नासिका के भीतर संचार करनेवाले प्राण तथा अपान को सम (समभावापन्न) कर इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को संयत कर (अपने वश में कर), इच्छा, भय तथा क्रोध का परित्याग करता है, वह मुनि सदा मुक्त ही है।

भाष्यदीपिका—यः मोक्षपरायणः—मोक्ष ही [अर्थात् पूर्ववर्ती तीन श्लोकों में (गीता ५।२४–२६) जिसे ब्रह्मनिर्वाण कहा गया है वह निर्विशेष ब्रह्मरूप मोक्ष ही] जिसका परम अयन अर्थात् परमगति है उन्हें मोक्षपरायण कहा जाता है। जो मोक्षपरायण हैं अर्थात् मोक्ष के अतिरिक्त और किसी विषय या सिद्धि की कामना जिसके अन्तर में नहीं रहने के कारण एकमात्र मोक्ष की ही अपेक्षा कर ईश्वरस्वरूप का मनन करता है वह ही मुनिः—संन्यासी है। ऐसा मुनि अर्थात् संन्यासी बाह्यान् स्पर्शान् बहिः कृत्वा—बाह्य शब्दादि विषयों को बाहर में ही स्थापित करके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयों को 'स्पर्श' कहा जाता है। ['स्पृश्यन्ते गृह्यन्ते इति स्पर्शाः' अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा गृहीत होने से (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना तथा घ्राण इन पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अन्तर में अर्थात् बुद्धि में प्रवेश करते हैं, इस कारण) शब्दादि विषय को 'स्पर्श' कहा जाता है]। ये विषय आत्मा के बाहर में भ्रान्ति से (अविद्या से) कल्पित होते हैं एवं आसक्ति-वशतः उन विषयों की चिन्ता करने पर ही वे [श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होकर उन उन विषयाकारों में परिणत अन्तःकरणवृत्ति के द्वारा (मधुसूदन)] अन्तर में प्रविष्ट होते हैं। अतः उनके प्रति कोई आसक्ति नहीं रहने से उन्हें वैराग्य के बल से बाहर में ही स्थापित करना सम्भव है। इसलिए इन्हें 'बाह्य' कहा गया है। अतः आत्मा से बहिर्भूत शब्दादि विषयों की चिन्ता न कर (उनके प्रति कोई आसक्ति न रखकर) वैराग्य के बल से विषयों को भीतर प्रवेश करने न देकर अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति को उन उन विषयाकारों में परिणत होने न देकर उनको बर्हिर्देश में ही स्थापित करके। [वैराग्य तथा अभ्यास के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष लाभ करना सम्भव है (गीता ६।३५)। "स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान" पद के द्वारा वैराग्य का उपदेश किया। अब अभ्यास के सम्बन्ध में कह रहे हैं—]

तथा भ्रुवोः अन्तरे चक्षुः (कृत्वा) च—(और ताकि इधर उधर दृष्टि न जाय इसलिए) चक्षुर्द्वय की (दोनों आँखों की) दृष्टि को दोनों भ्रू के (भौहों के) बीच में (मध्य-स्थान में) स्थापन करके। ऐसा करने का कारण यह है कि आँख को यदि निमीलित रखा जाय तब निद्रा [निद्रा-नामकलयात्मिका वृत्ति (मधुसूदन)] की सम्भावना रहती है और यदि

आँख को सम्पूर्णरूप से उन्मीलित रखा जाय तब चारों ओर दृश्य पदार्थों के द्वारा विक्षेप की सृष्टि होगी [अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प तथा स्मृति इन चार विक्षेपात्मिका वृत्तियों का उदय होगा। इन चार वृत्तियों का एवं लयात्मिका निद्रावृत्तिका अर्थात् पाँचों वृत्तियों का ही निरोध करना पड़ेगा। नहीं तो निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं होगी। (मधुसूदन)] इसलिए अर्धनिमीलित दोनों आखों की दृष्टि भ्रू के बोच में रखकर मनको एकाग्र करना पड़ेगा, यही कहने का अभिप्राय है]।

नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा—एवं नासिका में उच्छ्वास तथा निश्वास के रूप से जो प्राण तथा अपान वायु चलती रहती हैं उन्हें भी सम कर अर्थात् कुम्भक के द्वारा प्राण तथा अपान वायु की ऊर्ध्व तथा अधोगति को विच्छेद कर (निरोध के द्वारा समभावापन्न कर) अर्थात् केवल नासिका के अभ्यन्तर में (बीच में) ही संचारित करके **यतेन्द्रिय-मनोबुद्धिः**—जिसकी इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि यत (संयत) हुई हैं (एव स्व विषय से विमुख हुई है) अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ विषय ग्रहण से, मन विषय के चिन्तन से, बुद्धि विषय के सम्बन्ध में कर्तव्यता से विरत हो गयी हैं उसे 'यतेन्द्रियमनोबुद्धि' कहा जाता है। ऐसा होकर वह मुनि) **विगतेच्छा-भयक्रोधः**—इच्छा, भय एवं क्रोध से रहित होता है। [ये तीनों जिसके अन्तःकरण से विशेष रूप से अपगत (दूरीभूत) हुए हैं वह ही 'विगतेच्छा-भयक्रोध' है। इन तीनों का त्याग अवश्य करना चाहिए क्योंकि ये तीन रहते हुए समाधि सिद्ध नहीं हो सकती है]। **स सदा मुक्त एव**—जो मुनि (संन्यासी) इस प्रकार से अवस्थान कर सकता है वह सदा ही मुक्त है, ऐसा जानना। ज्ञाननिष्ठ एवं सर्वदा इच्छाशून्य संन्यासी की मुक्ति अनायास ही सिद्ध होती है। इसलिए मोक्ष के लिए उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता है क्योंकि उसी दशा में मोक्ष उसका स्वाभाविक रूप है। अत जैसे अज्ञानान्ध व्यक्ति के लिए मोक्ष आत्मा से भिन्न होने के कारण मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधन या कर्तव्य रहता है, सर्वत्यागी संन्यासी के लिए वैसा कोई कर्तव्य नहीं है। देह में वर्तमान रहता हुआ भी वह मुक्त ही है [अर्थात् जो इन गुणों से विशिष्ट है वह सर्वदा ही अर्थात् जीवित रहने पर भी मुक्त ही है। (मधुसूदन)]

[मुक्ति की अवस्था कैसी है ? एवं किस प्रकार साधन के द्वारा मुक्ति की योग्यता प्राप्त होती है ? उसे ही इन दो श्लोकों में कहा गया है]।

टिप्पणी—(१) प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ—मधुसूदनसरस्वती इसका अर्थ इस प्रकार किये हैं। प्राण तथा अपान को समभावापन्न कर अर्थात् कुम्भक के द्वारा उनकी ऊर्ध्व तथा अधोगति को विच्छेद कर एवं उन्हें नासाभ्यन्तरचारी कर अर्थात् केवल नासिका में संचारित रखकर। भाष्य के अनुसार इस पद का अन्वय इस प्रकार किया गया है—"नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा" और मधुसूदन की व्याख्या में अन्वय इस प्रकार किया गया है "प्राणापानौ समौ नासाभ्यन्तरचारिणौ कृत्वा" यही भेद है। श्रीधर स्वामी की टीका में दोनों प्रकार का अन्वय करके श्लोक की व्याख्या की गई है।

(२) नीलकंठ—इन दोनों श्लोकों में ज्ञानयोग के अन्तरंग साधन ध्यानयोग का वर्णन करने के उद्देश्य से ध्यानयोग की सिद्धि के लिए जो अष्टांग योग आवश्यक है उसे सूत्र के रूप से कहा गया है।

(क) 'विगतेच्छाभयक्रोधः' पद के द्वारा समाधि के साधनभूत यम नियम—सूचित हुए हैं।

(ख) जिन साधनों का इन श्लोकों में विधान किया है, वे ऋजुकाय होकर (शरीर को सरल रखकर) स्थिररूप से आसन में—उपवेशन करने से ही सम्भव होते हैं, अन्यथा नहीं अतः आसन अनिवार्य है, यह भी इन श्लोकों में कहने का अभिप्राय है।

(ग) 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' के द्वारा प्राणायाम सूचित हुआ है।

(घ) 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' के द्वारा प्रत्याहार—सूचित हुआ है।

(ङ) 'भ्रुवोरन्तरे चक्षुः कृत्वा' के द्वारा धारणा—सूचित की गई है।

(च) 'मुनिः' शब्द के द्वारा ध्यान—सूचित हुआ है।

(छ) (क) 'यतेन्द्रियः' के द्वारा वितर्काख्य सम्प्रज्ञान समाधि को सूचित किया गया है।

(ख) 'यतमनाः' के द्वारा विचाराख्य सम्प्रज्ञातसमाधि सूचित हुई है।

(ग) 'यतबुद्धिः' के द्वारा आनन्द तथा अस्मिताख्य सम्प्रज्ञात समाधि सूचित हुई है।

(घ) 'मोक्षपरायणः' के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि सूचित हुई है।

(ङ) 'मुक्त एव' शब्द के द्वारा योग के अन्तिम फल को सूचित किया गया है।

(३) श्रीधर—'स योगी ब्रह्मनिर्वाणम्' इत्यादि श्लोक में योगी ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं, यह कहा गया है। वह योग क्या है ? वह अब संक्षेप से दो श्लोकों में कहा जा रहा है—]बाह्यान् स्पर्शान्—बाह्य रूप, रस आदि विषयों की (जिनकी चिन्ता होने से ही अन्तर में प्रवेश कर जाती हैं उनकी) चिन्ता त्याग कर बहिः कृत्वा—उन्हें बाहर में ही रखकर चक्षुः च भ्रुवोः अन्तरे एव (कृत्वा)—चक्षु (दृष्टि) को भ्रू (भौंहों) के अन्तर में ही (बीच में ही) स्थापन कर। दोनों आँख को अत्यन्त निमीलित करने पर निद्रा के द्वारा मन का लय हो जाता है और अत्यन्त उन्मीलन करने पर मन बाहर की ओर चालित होता है—दोनों दोषों को परिहार करने के लिए अर्द्धनिमीलन के द्वारा भौंहों के बीच में दृष्टि को स्थापन कर नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा—प्राण ताकि बाहर न निकल जाय एवं अपान ताकि भीतर न प्रवेश करे किन्तु जिससे ये दोनों ही नासिका में संचरण करें, उस प्रकार मृदु उच्छ्वास तथा निःश्वास के द्वारा प्राण तथा अपान को समान करके यतेन्द्रियमनोबुद्धिः—जिनके इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि संयत हुए हैं एवं मोक्षपरायणः—मोक्ष ही जिनका परम अयन अर्थात् प्राप्तव्य है अतः विगतेच्छाभयक्रोधः—(विषय के प्रति) इच्छा, भय तथा क्रोध जिनके नष्ट हो गये हैं ऐसे जो मुनिः—[मननशील संन्यासी हैं] सः सदा मुक्त एव—वे सदा अर्थात जीवितावस्था में भी मुक्त ही हैं।

(४) शंकरानन्द—पूर्वश्लोक में 'संयतात्मनाम् (यतचेतसाम्)' इस वाक्य के द्वारा सम्यक् ज्ञान की सिद्धि और उसके फल की (मोक्ष की) सिद्धि का परम कारण है समाधि, यह सूचित कर साधनसहित उसी समाधियोग का उपदेश देने की इच्छा कर श्रीभगवान् उसके सूत्रभूत (सूत्र के रूप से) तीन श्लोकों को कह रहे हैं। उनमें प्रथम दो श्लोकों के द्वारा जो लोग निदिध्यासन करने की इच्छा करते हैं उनको छः अन्तरंग साधनों का अभ्यास करना चाहिए, इस प्रकार उपदेश दे रहे हैं—

बाह्यान् स्पर्शान्—आत्मा से बाहर ही भ्रान्ति से कल्पित पदार्थ बाह्य हैं। उन बाह्य स्पर्शों को अर्थात् बाह्य शब्दादि विषयों को बहिः कृत्वा—बहिर्देश में ही स्थापित कर अर्थात् मन के द्वारा उनका स्मरण न कर भ्रुवोः

अन्तरे चक्षुः च एव कृत्वा—इधर उधर दृष्टि ताकि न जाय इसलिए भौंहों के बीच में चक्षु अर्थात् दृष्टि रखकर (तथा) **नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा**—तथा नासिका के भीतर जो प्राण तथा अपान वायु चल रही हैं उन दोनों को ही हृदय में सम अर्थात् साम्यावस्थापन्न कर अर्थात् केवल कुम्भक करता हुआ। [पापक्षय के लिए एवं मन की निश्चलता के लिए मुमुक्षु को 'केवल-कुम्भक' करना कर्तव्य है यह यहाँ सूचित कर रहे हैं]। **यतेन्द्रियमनोबुद्धिः**—इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि यत (संयत) अर्थात् स्व स्व विषय से विमुख हो गये हैं जिससे, वह 'यतेन्द्रियमनोबुद्धि' है। ऐसा होकर अर्थात् इन्द्रिय के द्वारा विषयों का ग्रहण न कर, मन के द्वारा विषय का चिन्तन न कर एवं बुद्धि जिसे इष्ट निश्चय कर आवेश से प्राप्त कर लेती है ऐसे विषय का भी ग्रहण न करके जो **विगतेच्छाभयक्रोधः**—इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हुआ है अर्थात् इन तीनों जिसकी बुद्धि को विशेषरूप से त्याग कर गत हुए हैं (चले गये हैं)। [किसी विषय पर इच्छा रहने से समाधि की सिद्धि नहीं होती है; यदि दिनरात बन और गुहादि में हिंस्र प्राणियों से डरे रहे तब भी समाधि की सिद्धि नहीं होती है; यदि मच्छड़ चींटी प्रभृति अपकारी प्राणियों के प्रति क्रोध हृदय में रहे तब भी समाधि की सिद्धि नहीं होगी। अतः इन तीनों का निदिध्यासु को (निदिध्यासन करने में इच्छुक यति को) परित्याग करना चाहिए]। इसके अतिरिक्त जो **मोक्ष-परायणः**—प्रयत्नपूर्वक सभी कर्तव्य कार्य का त्याग कर मोक्ष के लिए तीव्र इच्छा से एकमात्र मोक्षसाधन में ही निष्ठावान् है एवं **यः**—जो मुमुक्षु सर्व-कर्मसंन्यास (त्याग) करके **सदामुनिः (भवति)**—सर्वदा मुनि अर्थात् मननशील होता है अर्थात् नित्य सत्य आत्मवस्तु का मनन (ध्यान) नियम-पूर्वक जो करता है **सः एव मुक्तः**—वह ही मुक्त होता है। दूसरा व्यक्ति सैकड़ों बार सुनने से भी मुक्त नहीं हो सकता है।

(५) **नारायणी टीका**—पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में सम्यग् दर्शन के द्वारा ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है, यह कहा गया है। अब उस सम्यग् दर्शन का अन्तरंग साधन जो ध्यान योग है वह संक्षेप से कहा जा रहा है। यह ध्यानयोग ही विस्तृत रूप से परवर्ती षष्ठ अध्याय में कहा जायगा। विषय के प्रति आसक्ति जब तक रहती है तब तक किसी की भी ध्यान योग में स्थिति होना असम्भव है। अतः पहले हो विषय का दोष विचार कर (विषय का अनित्यत्व तथा दुःखत्व विचार कर) विषयों से मन को प्रत्यावृत्त कर (हटा कर) वैराग्यवान् होना होगा (गीता ५।२२) एवं नित्य सत्य

आत्मस्वरूप भगवान् में मन को समाहित करने का अभ्यास करना होगा। वैराग्य तथा अभ्यास यह दोनों ही सम्यग् दर्शन लाभ का प्रधान साधन है वह भगवान् बाद में भी कहेंगे (गीता ६।३५)। कैसे विचार के द्वारा विषय के प्रति वैराग्य होता है वह पूर्ववर्ती अध्याय में एवं पंचम अध्याय में पुनः पुनः भगवान् ने कहा अभ्यास कैसे करना पड़ेगा उसे भी संक्षेप से पहले कहा चुका है। अब उस अभ्यास के सम्बन्ध में विस्तार रूप से कहने के उद्देश्य से सूत्र के रूप से इन दो श्लोकों में उसका उल्लेख किया गया है। पहले भगवान् की प्रीति के लिए निष्काम रूप से कर्मानुष्ठान के अभ्यास के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करना पड़ता है। उसके बाद कर्मसंन्यास कर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करना पड़ता है। निदिध्यासन परिपक्व होने से अर्थात् चित्त निर्विकल्प समाधि से आत्मा में लय होने पर ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व साक्षात्कार कर सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु चित्त को आत्मा में स्थिर रखने का अभ्यास करते समय नौ प्रकार के अन्तराय (विघ्न) उपस्थित होते हैं, यथा 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविपेक्षास्तेऽन्तरायाः ।' (पातंजलसमाधिपाद सूत्र ३०) अर्थात् व्याधि (शरीर की अस्वस्थता), स्त्यान (चित्त की अकर्मण्यता), संशय (सत्य निर्णय करने में असमर्थता अथवा चित्तस्थिर कर जीवन्मुक्तवस्था प्राप्त होना सम्भव है कि नहीं इस विषय में संशय), प्रमाद (मोहवशतः चित्त को स्थिर करने का अभ्यास न करना), आलस्य (देह तथा चित्त की जड़ता के कारण कर्म में चेष्टाहीनता), अविरति (विषय के प्रति लोभवशतः चित्त की विषम प्राप्ति की चेष्टा से विरति का अभाव) भ्रान्तिदर्शन (मिथ्या विषय समूहों को सत्य मान लेना), अलब्धभूमिकत्व चित्त की विषय प्रवणता के लिए समाधि-भूमि अर्थात् समाधि-अवस्था प्राप्त नहीं होना), अनवस्थितत्व (कभी कभी समाधिभूमि प्राप्त करके भी उसमें स्थित रहने में असमर्थ होना) यह नौ कारणों से उत्पन्न हुआ चित्त का विक्षेप समाधि योग का अन्तराय (विघ्न) होता है। साधन करते समय चित्त की प्रसन्नता नहीं रहने से चित्त स्थिर नहीं रहता है (गीता २।६२–६५)। चित्त की प्रसन्नता का क्रम इस प्रकार है—

(१) गुरु तथा शास्त्र वाक्य से भगवान् के अस्तित्व एवं स्वरूप के सम्बन्ध में संशय रहित होकर भगवान ही सर्वरूप से (माया के द्वारा) नाटक कर रहे हैं, इस विश्वास को दृढ़ कर वे जैसी प्रेरणा देते हैं वैसा ही निष्काम रूप से अर्थात् कर्तृत्वाभिमानशून्य तथा फलाकांक्षारहित होकर देह

तथा इन्द्रियों से यथोचित कर्मानुष्ठान करते हुए मन को साक्षीस्वरूप आत्मा में स्थित रखकर इस विश्वनाटक को देखते रहने से चित्त प्रसन्न होता है।

(२) इस प्रकार सर्वत्र भगवद् दर्शन के साथ मन में अथवा श्वास-श्वास से यदि प्रणव अथवा अन्य कोई इष्ट मंत्र का जप करते हुए भगवान ही सब कुछ है, सर्वव्यापी है, सर्वशक्तिमान है, तथा सर्वेश्वर है ऐसी भावना दृढ़ की जाय तो चित्त में प्रसन्नता का शीघ्र ही विकास होता है।

(३) मोक्ष शास्त्रादि का पाठ अथवा श्रवण तथा मनन करने से एवं मत्री, करण मुदित तथा उपेक्षा का अभ्यास करने से भी (पातंजल यो० द० समाधिपाद सूत्र ३३) चित्त की प्रसन्नता वृद्धि प्राप्त होती है।

योग शास्त्रों से निर्दिष्ट यम, नियम, आसन तथा प्रत्याहार के द्वारा भी चित्त की प्रसन्नता सम्पादित होती है। उसके बाद चित्त को स्थिर करने के लिए उपास्य या ध्येय वस्तु में धारणा करना पड़ता है। ध्येयवस्तु का स्थूलरूप में (स्थूलमूर्त्ति में) अथवा सूक्ष्मरूप में (विन्दु के रूप में) अथवा कारण के रूप में (सर्वव्यापी सत्तामात्र में ध्यान करना पड़ता है। ध्यान करते समय ध्येय वस्तु में सर्वव्यापित्व तथा ईश्वरत्व की भावना रखना आवश्यक है। भगवान् के स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण-इन रूपों में से किसी एक में चित्त को धारण करने पर चित्त ध्येयवस्तु के आकार में आकारित होकर स्थिर होता है एवं अन्त में उसी में ही निर्विष्ट हो जाता है। इसी अवस्था में ध्याता अपने को भूल जाता है ध्येय वस्तु ही प्रकट रहती है किन्तु द्वैतबुद्धि का लेशमात्र उसी दशा में भी रह जाता है। इसे ही (सम्प्रज्ञात समाधि) कहा जाता है। इस सम्प्रज्ञात समाधि में अनुभव का क्रम इस प्रकार है (क) भगवान् ही सब है (ख) मेरे में जो 'मैं' है वही भगवान् है (ग) मैं ही सब कुछ हूँ (मैं ही सर्वरूप से विद्यमान हूँ) इसे सानन्द सम्प्रज्ञात समाधि—कहा जाता है। (घ) नाम व प्रपञ्चरूप 'सब' कल्पित व मिथ्या है मैं ही एकमात्र नित्य सत्य वस्तु हूँ ऐसा अनुभव होने पर इसे अस्मिता सम्प्रज्ञात समाधि—कहा जाता है। (ङ) 'अस्मि' (अस्मिता 'मैं ही हूँ' इस भाव का भी (अर्थात् समस्त कल्पना का) लोप हो जाने से केवल आनन्दस्वरूप सत्तामात्र ही—ही रहता है) इस अवस्था में धर्ममेघ समाधि होती है अर्थात् मेघ से जिस प्रकार जल धारा गिरती रहती है उसी प्रकार आत्मस्वरूपस्थित स्वाभाविक आनन्दधारा योगी के हृदय में सर्वदा बहती है। इसे ही जीवन्मुक्ति अवस्था कहा जाता है। सर्वकल्पना उस अवस्था में रहित होने के

कारण उसे निर्विकल्प अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। निर्विकल्प समाधि में आत्मा ही केवल अवशिष्ट रहती है एवं आत्मा ही आत्मा का दर्शन करती है। यह ही सम्यग् दर्शन या मोक्ष है। वर्तमान दो श्लोकों में (२७-२८ श्लोकों में) उक्त अष्टांग योग का साधन एवं उसका अन्तिम फल क्या होता है ? उसे सूत्र के रूप से कहा गया है। [अष्टांग योग के किन किन अङ्गों की साधना किन-किन शब्दों के द्वारा सूचित की गई है उसे टिप्पणी (२) में दिया गया है]। इन दो श्लोकों में भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि जो (१) मुनि (मनन शील संन्यासी) मोक्षपरायण होकर अर्थात् मोक्ष ही जीवन का एकमात्र प्रयोजन है यह निर्णय कर (मुमुक्षु होकर) (२) गुरुमुख से वेदान्तवाक्यादि का श्रवण तथा मनन कर आत्मा का सत्यत्व तथा जगत् का मिथ्यात्व निश्चय कर विगतेच्छाभयक्रोध हुए हैं अर्थात् जागतिक विषय भोग की इच्छा तथा भय एवं क्रोध से शून्य होकर (३) (अत एव सभी विषयों से विरक्त होकर) बाह्यस्पर्शों को अर्थात् बाह्य विषयों को एवं उनकी भावनाओं को 'बहिःकृत्वा' अर्थात् बाहर रखकर (मन में प्रवेश करने न देकर अर्थात् मन को विषय से प्रत्याहार कर) (४) आखों को भौंहों के बीच में अर्द्धनिमीलित रखकर [आँख निमीलित रहने से निद्रा के द्वारा मन लयावस्था को प्राप्त होता है और पूर्णतः उन्मीलित रहने से मन में विक्षेप की सृष्टि होती है। अतः इन दोषों का परिहार करने के लिए आँखों को अर्द्ध-निमीलित रखकर] (५) प्राण तथा अपान वायु की क्रमशः उद्ध्र्व तथा अधो-गति को रोध करके दोनों वायु को समान कर (६) उभय के संचरण (गति) को नासिका के बीच में ही कुम्भक के द्वारा स्थिर कर (७) वह मुनि 'यतेन्द्रियमनोबुद्धि' होते हैं अर्थात् उनकी इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि विषयालोचना से निवृत्त होकर केवल आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करने की इच्छा कर ब्रह्मस्वरूप आत्मा में ही यत अर्थात् संयत (स्थिर) रहती है (८) इस प्रकार योगी सदा अर्थात् सर्वावस्था में मुक्त ही रहते हैं अर्थात् जीवित काल में भी संसार बन्धन से विमुक्त होकर जीवन्मुक्ति का आनन्द भोग करते हैं।

[पूर्ववर्ती दो श्लोकों में उक्त साधनों से योगी चित्त को समाहित कर के किस तत्त्व को जानकर मुक्त होते हैं, वही अब कहा जा रहा है—]

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥

अन्वयः—यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा शान्तिम् ऋच्छति ।

अनुवाद—मैं (परमात्मा) यज्ञ तथा तपस्या का भोक्ता हूँ, सभी जीवों का सुहृत् हूँ एवं सभी लोकों का महेश्वर हूँ ऐसा जानकर पूर्वोक्त संन्यासी (परम) शान्ति को (संसार के उपरतिरूप मोक्ष को) प्राप्त होता है।

भाष्यदीपिका—यज्ञतपसां भोक्तारम्—मैं समस्त यज्ञ तथा तपस्या के कर्ता रूप से एवं देवता के रूप से भोक्ता हूँ (भोगकर्ता हूँ) क्योंकि मैं सर्व-भूतों की आत्मा हूँ। अतः कोई भी जीव देह, इन्द्रिय, मन प्रकृति के द्वारा जो कुछ तपस्या करता है वह आत्मा की तृप्ति के लिए ही करता है। अतः मैं सभी तपस्या का कर्ता भी हूँ और भोक्ता भी हूँ। पुनः मैं देवताओं की भी आत्मा हूँ। अतः देवताओं की तृप्ति के लिए जो यज्ञादि कर्म किये जाते हैं वे भी मुझमें ही पहुँच जाते हैं। अतः देवता के रूप से भी मैं ही यज्ञों का भोक्ता हूँ। [पालन करना तथा भोजन करना, इन दोनों अर्थों में ही भुज् धातु का व्यवहार होता है। अतः श्लोक की विकल्प व्याख्या इस प्रकार हो सकती है भोक्ता—समस्त यज्ञ तथा तपस्या के कर्ता रूप से एवं देवता के रूप से मैं ही पालन करता हूँ, (मधुसूदन) ।]

सर्वलोकमहेश्वरम्—मैं सभी लोक का महान् ईश्वर हूँ। [मैं हिरण्य-गर्भादि का भी ईश्वर (नियन्ता) हूँ। (मधुसूदन)]। अतः मेरे ऊपर ईशित्व (शासन) करनेवाला और कोई भी नहीं है क्योंकि मैं ही सभी की आत्मा हूँ अर्थात् मैं ही सच्चिदानन्दैकरस अखंड अद्वय परमात्मा हूँ।

सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा—मैं सर्वभूतों के अर्थात् ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब तक सभी का सुहृत् हूँ। प्रत्युपकार की अपेक्षा न कर जो उपकार करते हैं उन्हें सुहृत् कहा जाता है। मैं (भगवान्) सभी प्राणियों का सुहृत् हूँ क्योंकि मैं सभी भूतों की आत्मा हूँ। मुझे इस प्रकार जानकर अर्थात् सभी प्राणियों के सुहृत्, सभी के हृदय में स्थित रहकर सभी बुद्धि वृत्तियों के साक्षी एवं सभी कर्म तथा कर्मफलों का अध्यक्ष (विधाता) नारायण स्वरूप मुझे जानकर अर्थात् अपने 'मैं' को (प्रत्यगात्मा को) उक्त परब्रह्मस्वरूप से अभिन्न जानकर (साक्षात्कार कर) एवं उसमें ही निष्ठा (स्थिति) लाभ कर शान्तिम् ऋच्छति—(परब्रह्म भाव को प्राप्त कर) सर्वसंसार से उपरति रूप शान्ति को प्राप्त करते हैं। 'संसार से उपरति' शब्द का अर्थ है—जन्ममृत्युरूप

संसार की निवृत्ति अर्थात मोक्ष। वही परमा शान्ति है। [इस शान्ति को ही वह योगी सर्वान्तर्यामी, सर्वभासक (सर्वप्रकाशक), परिपूर्ण, सच्चिदानन्दैकरस, परमार्थसत्य, सर्वात्मा नारायणरूपी मुझे अपनी आत्मा के रूप से साक्षात्कार कर प्राप्त होते हैं एवं कृतकृत्य होते हैं (मधुसूदन) अर्जुन प्रश्न कर सकता है कि तुम्हें तो सामने ही प्रत्यक्ष कर रहा हूँ तब भी क्यों मेरी अशान्ति दूर नहीं हो रही है ? इसी शंका का ही इस श्लोक में समाधान किया गया है। श्रीभगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि मुझे मनुष्य के रूप से, सखा के रूप से अथवा वसुदेव के पुत्र के रूप से तुम अब देख रहे हो किन्तु वैसे दर्शन के द्वारा मुक्ति या परमा शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती है। तत्त्वज्ञान ही (मेरे स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही) मुक्ति का साधन है—मुक्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है। जो विशेषण यहाँ कहे गये हैं उन विशेषणों से विशिष्ट मुझे (आत्मा को) अपनी एवं सभी प्राणियों की आत्मारूप से यदि जान सको (साक्षात्कार कर सको) तभी परम शान्ति या मुक्ति प्राप्त होगी।

टिप्पणी (१)—इस अध्याय के प्रथम भाग में (अमुख्य) संन्यास (ज्ञानरहित संन्यास) की अपेक्षा कर्मयोग को प्रशस्ततर कहे जाने पर भी मुख्य संन्यास का (ज्ञानपूर्वक संन्यास का) श्रेष्ठत्व ही भगवान् ने प्रतिपादन किया है। निष्काम कर्मयोग के द्वारा बुद्धि शुद्ध होने पर योगी काम क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ होते हैं। उसके बाद शमदमादि साधन सम्पत्ति सम्पन्न होकर ज्ञान का अधिकारी होने से संन्यास अवलम्बन कर श्रवणादि के द्वारा सर्वसंशय की निवृत्ति कर ध्यानयोग एवं समाधि योग के द्वारा त्वं पदार्थ प्रत्यगात्मा तथा तत् पदार्थ परमात्मा के ऐक्य (अभिन्नता) का साक्षात्कार होता है एवं बाद में उस परमात्मा में ही निष्ठा (निरन्तर स्थितिलाभ) होने से मुक्ति प्राप्त होती है, यही इस अध्याय के अन्त में इसलिए ही कहा है—'अनेकसाधनाभ्यासनिष्पन्नं हरिणेरितम्। स्वस्वरूपपरिज्ञानं सर्वेषां मुक्तिसाधनम्॥' अर्थात् जो सभी की मुक्ति का साधन स्वरूप है एवं जो अनेक साधनाओं के अभ्यास से निष्पन्न होता है अपने उस स्वरूप का परिज्ञान अर्थात् आत्मा का पूर्णज्ञान किस प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है ? वह भगवान् हरि ने इस अध्याय में कहा।

नीलकंठ—'मां' शब्द का अर्थ सगुण ब्रह्म मानकर ऐसा अर्थ किया जाता है—

यज्ञतपसां भोक्तारम्—सोपाधिक (ब्रह्म) यज्ञ तथा तपस्यादि के रूप में अतः भोग के कर्ता के रूप से भी भोक्ता हूँ। फिर देवता के रूप से भी भोक्ता हूँ अर्थात् यज्ञ तपसादि कर्म का पालन करता हूँ। पुनः सर्वलोक-महेश्वरम्–सभी भूतों के अर्थात् हिरण्यगर्भादि का भी व्यापक ईश्वर (ईशिता अन्तर्यामी) मैं ही (वासुदेव ही) हूँ अतः मैं सभी का महेश्वर हूँ। सुहृदं सर्वभूतानाम्—प्रत्युपकार की अपेक्षा न कर मैं सभी प्राणियों का उपकार करता हूँ। अतः मैं सुहृत् हूँ क्योंकि मैं उन सभी के बुद्धिप्रत्यय का (चित्त-वृत्ति का) साक्षी के रूप से सदा ही विद्यमान रहता हूँ। ज्ञात्वा मां शान्तिम् ऋच्छति—उक्त गुणों से विशिष्ट नारायण रूप मुझे जानकर अर्थात् प्रत्यगात्मा से मुझे अभिन्न साक्षात्कार कर एवं तद्भाव को, मेरे स्वरूप को अर्थात् ब्रह्मरूप को प्राप्त कर शान्ति अर्थात् सर्वउपाधिरहित निरूप कैवल्य नामक मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सोपाधि ब्रह्मभाव को पहले प्राप्त करके ही विरुपाधिक ब्रह्म की प्राप्ति होती है, यही यहाँ सूचित किया गया है। विद्यारण्यकृत वार्तिकसार में भी इस प्रकार कहा गया है।

"सोपाधिनिरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते। सोपाधिकः स्यात् सर्वात्मा निरूपोऽस्यानुपाधिकः। जक्षन् क्रीड़न् रतिं प्राप्त इति सोपाधिकस्य तु। छान्दोग्ये सर्वकामाप्तिः सार्वात्म्यात् स्पष्टमीरिता अहमन्नं तथाहमन्नाद श्लोक कार्यप्यहो अहम् इति तत्त्वविदः सामगाने सर्वात्मा श्रुता। अत्रापि चक्रदृष्टान्तात् सोपाधिस्तत्त्वविच्छ्रुतः । अपूर्वानपरमुक्त्या श्रोष्यते निरुपाधिकः" अर्थात् सोपाधि तथा निरुपाधि भेद से ब्रह्मवित् दो प्रकार के हैं। सोपाधिक ब्रह्मवित् सर्वात्मा होते हैं अर्थात् अपने को सर्वात्मरूप से अनुभव करते हैं एवं निरुपाधिक ब्रह्मवित् रूपादिहीन (उपाधि वर्जित) शुद्धचैतन्य के रूप से अपने को अनुभव करते हैं आहार करते हैं, क्रीड़ा करते हैं, रमण करते हैं अथवा सर्वकाम प्राप्त होते हैं इत्यादि वाक्य जो ब्रह्मवित् को उद्देश्य कर कहा गया है वह सर्वात्मरूप से 'मैं ही यह सब कुछ हूँ' ऐसे भाव से जो आत्मा को साक्षात्कार किये हैं उन्हीं के सम्बन्ध में ही छान्दोग्य उपनिषद् में ऐसा कहा गया है। सामगान में भी 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद (अन्नभोजी) हूँ, मैं श्लोककारी भी हूँ' इत्यादि रूप से ब्रह्मविद् का जो उल्लास वर्णित हुआ है वह भी उसी सर्वात्मता को ही निर्देश कर रहा है। इस स्थान में भी चक्रदृष्टान्त के द्वारा जो कहा गया वह भी उस सोपाधिक तत्त्वविद् के सम्बन्ध में भी कहा गया। 'अपूर्व, अनपर इत्यादिरूप से श्रुति में (बृहदारण्यकोपनिषद् में) जो कहा गया

है वह उपाधिरहित ब्रह्म को लक्ष्य कर कहा गया है। अतः ऐसे ब्रह्म को जानते हैं वे ही निरुपाधिक ब्रह्मवित हैं। वे ही संसार प्रवाह से मुक्त हो जाते हैं।

(३) श्रीधर —[अच्छा, ऐसे इन्द्रिय संयम मात्र के द्वारा मुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? (उत्तर) नहीं, केवल इन्द्रिय संयममात्र द्वारा मुक्ति नहीं होती है किन्तु ज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है। यही अब कह रहे हैं—]

यज्ञतपसां भोक्तारम्—भक्तगणों के द्वारा समर्पित यज्ञों तथा तपस्याओं का [अर्थात् भक्तलोग यज्ञ तथा तपस्या करते समय मुझे ही (ईश्वर को ही) फल समर्पण करते हैं, अतः उन यज्ञों तथा तपस्याओं का] मैं ही मेरी स्वतंत्र इच्छा के अनुसार भोक्ता अथवा पालक हूँ। **सर्वलोक-महेश्वरम्** —पुनः मैं ही सभी लोकों का महान् ईश्वर हूँ। इसके अतिरिक्त **सर्वभूतानां सुहृत्**—सभी प्राणियों का सुहृत् निरपेक्ष उपकारी हूँ। किसी से भी किसी प्रकार के उपकार की आशा न कर ही सभी प्राणियों का ही मैं उपकार करता हूँ, अतः मैं सबका सुहृत् अर्थात् अन्तर्यामी हूँ। **मां ज्ञात्वा**—ऐसे विशेषणों से विशिष्ट मुझे जानकर मेरे भक्तयोगी मेरी कृपा से **शान्तिम् ऋच्छति**—शान्ति (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

विकल्पशंकाऽपोहेन येनैवं सांख्ययोगयोः। समुच्चयः क्रमेणोक्तः सर्वज्ञं नौमि तं हरिम्॥

[सांख्य (ज्ञान) या योग (कर्मयोग) उनके लिए अनुकूल होगा ऐसी विकल्प शंका का अर्जुन के मन में उदय होने से उस शंका को दूर करने के लिए जो इस अध्याय में क्रम समुच्चय बताया (अर्थात् पहले कर्म-योग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञान योग के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना होगा, ऐसा उपदेश प्रदान किया, उस सर्वज्ञ हरि को (श्रीकृष्ण को) मैं नमस्कार कर रहा हूँ]।

(४) शंकरानन्द—पूर्व दो श्लोकों से ध्याता का साधन एवं ध्याता का लक्षण निरूपण कर अब इस श्लोक में ध्येय वस्तु का निरूपण कर रहे है—

पूर्वश्लोकों में कहे हुए साधनों से सम्पन्न निदिध्यासु (निदिध्यासन करने वाला) यति **यज्ञतपसाम्**—श्रौत तथा स्मार्त यज्ञों एवं सत्य, श्रुत एवं

शान्ति आदि तपस्याएँ एवं अन्य अन्य जो कर्म किये जाते हैं उनके फल के भोक्तारम्—भोक्ता आत्मा को अर्थात् (देहादि) उपाधि तथा उपाधि के धर्मों के सम्बन्ध से रहित आत्मा को एवं सर्वभूतानां सुहृदम्—ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब तक सर्वभूतों की आत्मा होने के कारण सुहृद को अर्थात् प्रेष्ठतम को (प्रियतम को) अथवा सर्वभूतों के सु (शोभन) हृत (हृदय जिसका उपलब्धि स्थान) है वह सुहृत् है अर्थात् सर्वभूत के हृदय में जो आत्मरूप से विद्यमान है तथा सर्वलोकमहेश्वरं माम्—'लोक्यन्ते इति लोकाः' अर्थात् जिसे देखा जाता है उसे लोक कहा जाता है। 'सर्वलोक' शब्द का अर्थ है—सर्व (सब) ही लोक (दृश्य) है। इस सर्वलोक से (अर्थात् अव्यक्त से लेकर स्थूल तक समस्त दृश्य प्रपंच से) महान् (महत्तम) है एवं अपनी सन्निधिमात्र से सभी को प्रेरित करता है अर्थात् सचेष्ट करता है, इसलिए वह ईश्वर भी है। महान् होकर जो ईश्वर हो वह महेश्वर है। उस सर्वलोकमहेश्वर मुझे अर्थात् सर्वात्मक सच्चिदानन्दैकरस मुझ परमात्मा को ज्ञात्वा—जानकर अर्थात् प्रत्यगात्मा मुझको ही (अहंपद लक्ष्य शुद्ध चैतन्य को ही) परब्रह्म जानकर एवं प्रत्यगभिन्न परब्रह्म मेरा ही मनन एवं ध्यान करके शान्तिम् ऋच्छति—शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् सर्व संसार का उपसमरूप परब्रह्म भाव को प्राप्त होता है अथवा यज्ञतपसां भोक्तारम्—कार्य्योपाधि जिनका है उस त्वं पदार्थ आत्मा को [त्वं पदार्थं वाच्य जीवात्मा ही यज्ञतपस्यादि सभी कर्म का भोक्ता होती हैं ! शुद्धचैतन्य में कर्तृत्त्व, कर्तव्य नहीं है]। एवं सर्वभूतानां सुहृदं सर्वलोकमहेश्वरम्—समस्त प्राणियों का सुहृद् तथा सर्वलोक के महेश्वर की अर्थात् कारणोपाधि से युक्त तत्पदार्थ को 'अथात् आदेश नेति नेति' (इसलिए 'नहीं' इस प्रकार निषेधमुख से ब्रह्म का निर्देश किया गया है) इत्यादि श्रुतिवाक्य के अनुसार इन दो उपाधियों को (अर्थात् त्वं पदार्थ की कार्योपाधि एवं तत्पदार्थ की कारणोपाधि को) निरास (त्याग) कर उस त्वं तथा तत्पदार्थ दोनों की ही केवल जो चैतन्यमात्र सत्ता अवशिष्ट रहती है अर्थात् उनके अधिष्ठानभूत जो सत्य ज्ञान, अनन्त, चिदानन्दैकरस, निर्विशेष परब्रह्मरूप सत्तामात्र अवशिष्ट रहता है उसको ही मां ज्ञात्वा—मेरे स्वरूप जानकर अर्थात् 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार मुझ परब्रह्म को आत्मरूप से सर्वदा मनन कर एवं ध्यान कर (अन्त में ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व अनुभव कर) शान्तिम् ऋच्छति—शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् विदेह मुक्ति को प्राप्त होता है।

(५) नारायणी टीका—सर्व-उपाधि रहित शुद्धचैतन्य ही श्रीकृष्णका

अहं (मैं) है। पुनः प्रति जीव में भी वह शुद्ध चैतन्य सत्ता ही 'मैं' रूप से विराजमान है। यह 'मैं' ही एकमात्र चेतन है और सब ही जड़ वस्तु चेतन की प्रेरणा से ही कार्य करती है। अतः 'मैं ही' मायोपहित (माया से युक्त) होकर माया-सृष्ट जगत् की यज्ञतपस्या इत्यादि सभी कर्मों के भोक्ता—के रूप से प्रतीत होता है। यह 'हैं' जागतिक सभी कल्पित वस्तुओं का एकमात्र अधिष्ठान है। अतः भगवान् कहते हैं कि 'मैं' ही सर्वभूत के नित्य अविकारी सुहृत (प्रियतम आत्मा) हूँ। पुनः 'मेरे' अस्तित्व के बिना किसी वस्तु का भी अस्तित्व नहीं रह सकता, 'मेरे' प्रकाश के बिना किसी का भी प्रकाश नहीं हो सकता है अर्थात् नामरूप तथा क्रियात्मक मिथ्या जगत् का जो कुछ है वह 'मेरी' सत्ता से ही सत्तावान् है, 'मेरे' प्रकाश से ही प्रकाशवान् है एवं 'मेरी' सन्निधि से ही क्रियावान् होता है। इस प्रकार चैतन्यस्वरूप 'मैं' ही सर्व-भासक, सर्वान्तर्यामी, सर्ववृत्तियों का साक्षी एवं सर्वकर्मफलाध्यक्ष होकर नित्य विद्यमान रहने पर भी सु अर्थात् उत्तम (शुद्ध) हृत् अर्थात् हृदय में ही मेरे स्वरूप की उपलब्धि होती है। इस कारण से भी मैं सभी प्राणियों का सुहृत्—हूँ। फिर इहलोक के समान सर्वलोक के ईश्वर का ईश्वर (महेश्वर) भी 'मैं' (शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म) ही हूँ। इस प्रकार जो ब्रह्मविद् भगवान् का 'मैं' को अपना 'मैं' जान लेते हैं वे देहादि में और आत्मबुद्धि नहीं करते हैं किन्तु ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त होकर ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) या परमाशान्ति—प्राप्त करते हैं। [कोई-कोई 'मां' शब्द का अर्थ सगुणब्रह्म मानकर श्लोक की व्याख्या किये हैं। जिनकी चित्तशुद्धि नही हुई है वे पूर्व दो श्लोकों में निर्दिष्ट साधनसम्पत्ति से सम्पन्न होकर सगुण ईश्वर में चित्त समाहित कर मोक्ष लाभ करने की चेष्टा करेंगे क्योंकि अशुद्धचित्त वाले के लिए ब्रह्म या आत्माके निर्गुणस्वरूप को धारण करना अत्यन्त कठिन है। अतः उनके लिए ब्रह्म या आत्मा का सगुण (सोपाधिक) भाव को अवलम्बन कर उपासना करने का प्रयोजन होता है। इसलिये श्रीभगवान् कह रहे हैं—ऐसी उपासना के फल से मेरे भक्त समझ सकते हैं कि 'मैं' ही सभी यज्ञतपस्यादि के फल का भोग कर्ता हूँ [क्योंकि चेतन बिना जड़ देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण का कोई भोक्तृत्व अर्थात् (भोग का कर्तृत्व) नहीं हो सकता है]। पुनः मैं ही देवताओं का रूप धारण कर यज्ञादि कर्म का भोक्ता अर्थात् पालक (रक्षक) हूँ। शुद्ध-चैतन्यस्वरूप मुझमें ही ब्रह्मादि विश्वप्रपंच कल्पित है, अतः सभी के अधिष्ठान होने के कारण मैं ही सर्वलोक का महेश्वर हूँ। मेरी सन्निधि (प्रेरणा) के बिना ब्रह्मादि ईश्वर भी कोई कार्य नहीं कर सकते हैं अतः मैं ही सर्वलोक का

महेश्वर हूँ—मैं ही सभी का सुहृत् (प्रियतम आत्मा) हूँ, ऐसा जानकर मेरे सगुणभाव की उपासना करने पर जीव का अहंकार निवृत्त हो जाता है एवं मेरा ही ध्यान करते करते जब मुझमें उसका चित्त लय हो जाता है तब मेरा निर्गुणस्वरूप (शुद्धचैतन्यस्वरूप) उसके शुद्ध हृदय में प्रकट होता है। तब मेरा भक्त जान सकता है कि उसका 'मैं' एवं मेरा 'मैं' दोनों एक ही है अर्थात् अखंडाद्वय सच्चिदानन्दघन ही अपनी आत्मा का यथार्थस्वरूप है। इस प्रकार पूर्णज्ञान से ही अन्त में ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) या परमा शान्ति प्राप्त होती है।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

[इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये प्रकृतिगर्भो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥]

"*Raghu's* son", thus spake the sages, "helper of each holy rite,
Portion of the royal *Indra* fount of justice and of might,
On thy throne or in the forest, king of nations, lord or men,
Grant us to thy kind protection in this hermit's